# सत्यामृत

[ मानव-धर्म-शास्त्र ]

## [ दृष्टि--काण्ड ]

प्रणेता—

दरबारीलाल सत्यभक्त

संस्थापक सत्यसमाज

मूल्य १।)

प्रकाशक—

सूरजचन्द सत्यप्रेमी [ डाँगी ]

सत्याश्रम, वर्धा [ सी. पी. ]



मूल्य—

प्रथमावृत्ति, १।)

एक रुपया चार आने

मुद्रक—

सत्येश्वर प्रिण्टिङ्ग प्रेस

बोरगाँव, वर्धा [ सी. पी. ]

# प्राथमिक वक्तव्य

सत्यसमाजी-बन्धुओं में यह चर्चा चल पड़ी थी कि अपने लिये किसी ऐसे मूल-ग्रन्थ की आवश्यकता है जिसे हम विश्व-शान्ति के स्थायी उपाय-रूप सम्पूर्ण राष्ट्रों, सम्प्रदायों और जातियों में सांस्कृतिक ऐक्य स्थापित करने के तरीकों को अच्छी तरह समझने और मनन करने के लिये भगवान सत्य का प्रामाणिक सन्देश कह सकें।

जब मैं प्रेमधर्म का प्रचार करता हुआ 'छिंदवाड़ा' पहुँचा तब वहाँ के अध्यक्ष ने एक मनोरञ्जक बात सुनाई, बोले—"अनेक सम्प्रदायों के बन्धु हमें कहते हैं कि 'यह कैसा सत्यसमाज है? जिस का कुछ जड़मूल ही नहीं, बिना ही जड़-मूलवाला यह कौनसा झाड़?' तब साहब! हम उल्टा-सीधा यह उत्तर तो दे दिया करते हैं कि 'अमर-बेल का जड़ नहीं हुआ करती' परन्तु हम को भी अनेक बार ऐसे विचार उत्पन्न हुए हैं कि एक विश्वमान्य सर्वोपयोगी धर्म-शास्त्र की आवश्यकता अवश्य है।"

यह बात सुनकर मैंने कहा कि,—'**सन्देश**' के अंकों में सत्यसमाज का इतना साहित्य निकल चुका है कि यदि उसे एक स्थान पर एकत्र किया जाय तो किसी भी महाशास्त्र से कम नहीं होगा और यह आप शीघ्र ही देखेंगे कि आपके इस सत्यसमाज-रूपी उपवन के लिये उस संपूर्ण सामग्री को पीस कर—कूट-छान कर ऐसा सत्यामृत तय्यार किया जाने वाला है जिससे तमाम वृक्षों को संजीवन, सिंचन और प्रगति मिले।"

मैंने वर्धा आकर पूज्यवर पिताजी से प्रार्थना की कि वे सत्यसमाज के गंभीर, विस्तृत और ठोस सत्य-सन्देशों को व्यवस्थित और शृंखला-बद्ध बनाकर ऐसे उदार, सर्वव्यापक पारिभाषिक शब्दो में ढाल दें जिस के आधार पर संसार युग--युग तक वास्तविक सुख और शान्ति के असली मर्म को न भूल सके।

वहाँ क्या देर थी?—तुरन्त काम शुरू कर दिया गया और आज आपके सामने उस मानव-धर्म-शास्त्र का यह पहला काण्ड मौजूद है जिसमें अपने जीवन के अनुभव-कोष का आधार लेकर विश्व-हित पर दृष्टि रखते हुए प्रेम-धर्म का ऐसा मौलिक विवेचन किया गया है जो सम्पूर्ण धर्मोंका मूल कहा जा सकता है। इस ग्रन्थराज में अन्य शास्त्रों का उपयोग तो उतना ही हुआ है जितना आँखों के लिये अञ्जन का होता है:----

**'अनुभव और तर्क दो आँखें, अञ्जन सारे वेद'**

यह शास्त्र इस पंक्ति का निर्दोष उदाहरण है। मानव-जाति को अपना आदर्श निश्चित करने के लिये, विश्व-मानव के जीवन-रहस्य को समझने के लिये और उसके अनुसार आचरण करने के लिये एक असाधारण मौलिक दृष्टि प्राप्त करना हो तो हरएक मज़हब के अनुयायी को इस शास्त्र का नियमित रूप से मनन-पूर्वक स्वाध्याय करना चाहिये।

विषय-सूची ध्यान से पढ़ने पर आपको यह साफ़ मालूम हो जायगा कि इस ग्रन्थ में आदर्श मानव-जीवन की कितनी ही जटिल समस्याओं को सुलझाते हुए गंभीर से गंभीर विषय को भी कितने सुन्दर, सरस, युक्तियुक्त, संक्षिप्त और सीधे-साधे नवीन पारिभाषिक शब्दों में स्पष्ट किया गया है जो अन्य शास्त्रों में आपको क्वचित् ही दिखाई देगा।

यद्यपि इस महाशास्त्र का अवतरण सत्यसमाज के लिये हुआ है फिर भी इसका लाभ तो संसार को मिलनेवाला है। आप जानते हैं कि संसार के सर्वोत्कृष्ट प्रयत्न का नाम भगीरथ प्रयत्न है कारण कि सम्राट् भगीरथ गंगा-सरीखी सुर-सरिता को अपने पूर्वज सगर-पुत्रों के उद्धारार्थ घोर परिश्रम से हमारे बीच लाये हैं—परन्तु उन सगर-पुत्रों का उद्धार हुआ या नहीं यह तो भगवान भूतनाथ ही जानते हैं लेकिन उस गंगावतरण से आज हमें कितना लाभ मिलता है यह आप प्रत्यक्ष देख रहे हैं। उसी प्रकार इस सत्यामृत-प्रवाहिनी पवित्र गंगा से सत्यसमाज का उद्धार हो चाहे न हो पर एक दिन ऐसा अवश्य आयगा जब संपूर्ण विश्व-मानव को इस पवित्र तीर्थ में स्नान किये बिना अपना जीवन अधूरा-सा या यों कहिये कि किंकर्तव्यविमूढ़—सा लगने लगेगा।

इस शास्त्र के दो काण्ड और निकलेंगे जिनका नाम आचार—काण्ड और व्यवहार-काण्ड होगा। इस प्रकार यह शास्त्र दुनिया के लिये एक असाधारण मानव-धर्म-शास्त्र बन जायगा।

इसके नियमित मननपूर्वक स्वाध्याय करनेवाले पाठक एक ऐसी ख़ास मौलिक और सम-भावी दृष्टि पायेंगे जिसके द्वारा वे हरएक स्थान की हर एक वस्तु को हर एक समय यथावस्थित रूप में देख सकें।

मनुष्य के मानस का यह स्वभाव है कि वह कल्याण-कारी समझकर जिस तत्व को प्रचण्ड प्रयत्न से ग्रहण कर पाता है उसे ही सुन्दर समझकर सहज ही स्वीकार कर लेता है।

मुझे यह लिखते हुए सब से अधिक हर्ष होता है कि यह महाशास्त्र इसी उद्देश्य को सामने रख कर प्रकाशित किया गया है कि प्रत्येक श्रेयस्कारी तत्व मनुष्य के मानस को प्रिय, सुन्दर या सुख देनेवाला प्रतीत होने लग जाय ताकि सब लोग सरलतापूर्वक आनन्द के साथ उसका आचरण कर सकें।

अंत में मैं यह विश्वास-पूर्वक कहता हूँ कि यदि शिक्षण-संस्थाओं के संचालक इस ग्रंथ का श्रद्धा के साथ स्वाध्याय करेंगे तो वे साम्प्रदायिक विष से शून्य सम-भावी धार्मिक शिक्षा के लिये इसे एक मात्र पाठ्य-ग्रन्थ बनाने के लिये तुरन्त लालायित हो उठेंगे।

आशा है कि गुण-ग्राही पाठक हमारे इस सर्वोपयोगी महान्-अनोखे प्रयत्न की काफ़ी क़द्र करेंगे।

विनीत—

**सूरजचन्द सत्यप्रेमी**

[ डाँगी ]

२७-१-१९४०

**सत्याश्रम, वर्धा**

[ सी. पी. ]

विषय--सूची—

## पाँचवाँ अध्याय — लक्षणदृष्टि — पृ. ६५ से १४०

योगी के पाँच चिह्न---विवेक, धर्मसमभाव, जातिसमभाव, व्यक्तिसमभाव, अवस्थासमभाव । सिद्धयोगी, साधकयोगी, साधकयोगी के तीन भेद--लवसाधक, अर्धसाधक, बहुसाधक। विवेक के द्वारा चार मूढ़ताओं का त्याग---गुरुमूढ़ता, शास्त्रमूढ़ता, देवमूढ़ता, लोकमूढ़ता। गुरु की तीन श्रेणियाँ--स्वगुरु, संघगुरु, विश्वगुरु। कुगुरु, शब्दभापा, मौनभापा । वेष, पद, व्यर्थक्रिया, व्यर्थविद्या ये चार गुरुत्व के चिह्न नहीं है। गुरु की ज़रूरत किसे नहीं है ? गुरुडम या गुरु-वाद का परिहार। गुरु की परीक्षा। ६५ से ७३ ।

शास्त्रमूढ़ता। पाँच कारणों से शास्त्र-परीक्षा की ज़रूरत---गुरुपरोक्षता, परिस्थितिपरिवर्तन, शब्दपरिवर्तन, अर्थपरिवर्तन, अविकास। परीक्षामें स्वत्वमोह, प्राचीनतामोह, भाषामोह और वेषमोह का त्याग, उस में तीन बातों का विचार---वस्तु का मूल्य, परीक्षा की सुसम्भावना की मात्रा, परीक्षा न करने से लाभहानि की मर्यादा। ७३ से ७६ तक

देवमूढ़ता। गुणदेव, व्यक्तिदेव। पाँच प्रकार की देवमूढ़ता--देवभ्रम, रूपभ्रम, कुयाचना, दुरुपासना, परनिन्दा। देवभ्रम में मूर्त्तिपूजा का विचार। लोकमूढ़ता, लोकाचार का विचार। ७६ से ८२

धर्म-समभाव। तीन तरह का समभाव--भक्तिमय, उपेक्षामय, घृणामय। तरतमता का भाव दो तरह का--वैकासिक और भ्रमजन्य। धर्मसंस्थापकों का आदर करने के तीन अनिवार्य कारण---पारिस्थितिक महत्ता, सामूहिक कृतज्ञता, बन्धु-पूज्य-समादर। व्यक्तिदेवो की तीन श्रेणियाँ--उपयुक्त, उपयुक्त-प्राय, ईषदुपयुक्त। मूलधर्म और सम्प्रदाय का भेद। धर्म मे भ्रम होने के पाँच कारण--धर्मशास्त्र के स्थान का भ्रम, परिवर्तन पर उपेक्षा, दृष्टि की विकलता, अनुदारता के संस्कार, सर्वज्ञता की असंगत मान्यता। धर्मशास्त्र का स्थान । ईश्वर-वाद, आत्मवाद, सर्वज्ञवाद, मुक्तिवाद, द्वैताद्वैत, नित्यानित्य पर विचार। परिवर्तन पर उपेक्षा आदि का विवेचन। पृ. ८२ से १०१ तक।

जातिसमभाव---मूल में मनुष्य-जाति की एकता की सर्वसम्मत-मान्यता, जाति-कल्पना से आठ हानियाँ। वर्णभेद विचार। राष्ट्र-भेद विचार, संस्कृति और सभ्यता। वृत्तिभेद विचार। छूआछूत विचार। उपजाति कल्पना। पृ. १०१ से १२३ तक

व्यक्ति-समभाव। इसके लिये दो तरह की भावना--स्वोपमता और चिकित्स्यता। अवस्था-समभाव। यह तीन तरह का--सात्विक, राजस, तामस। सात्विक समभाव की नाट्य, क्षणिकत्व, लघुत्व, महत्त्व, अनृणत्व, कर्मण्य, अद्वैत आदि भावनाएँ। पृ. १२३ से १३२ तक।

योगी की तीन लब्धियाँ — विघ्नविजय, निर्भयता, अकषायता। चार तरह का विघ्नविजय-विपत्, विरोध, उपेक्षा, प्रलोभन-विजय। तीन प्रकार के भय--भक्तिमय, विरक्तिभय, अपायभय। निर्भयता का स्वरूप। भयके दसभेद--भोग, वियोग, संयोग, रोग, मरण, अगौरव, अपयश, असाधन, परिश्रम, अज्ञात। अकषायता का रूप। १३२ से १४० तक।

## ६ छट्ठा अध्याय -- जीवनदृष्टि -- पृ. १४१ से २११



---

# समर्पण........

## भगवान सत्य के चरणों में

परम पिता !

तेरी वस्तु तुझी को अर्पण ।
जो कुछ कहलाता है मेरा, है तेरी ही करुणा का कण ॥
तेरी वस्तु तुझी को अर्पण ॥ १ ॥

तीर्थंकर है तीर्थ बनाते ।
पैग़म्बर पैग़ाम सुनाते ॥
तेरी ही झाँकी दिखलाकर कोई है अवतार कहाते ॥
करते हैं सर्वस्व समर्पण ।
तेरी वस्तु तुझी को अर्पण ॥ २ ॥

पर यह दीन कहाँ क्या पाये ?
उसका क्या ? जो भेंट चढ़ाये ॥
दिल निचोड़कर ले आया बस, तेरा चरणामृत बन जाये ।
पीता रहे इसे जग क्षणंक्षण ।
तेरी वस्तु तुझी को अर्पण ॥ ३ ॥

तेरा दास
—दरबारीलाल सत्यभक्त

# सत्यामृत

## [ मा न व—ध र्म—शा स्त्र ]

# दृष्टिकांड

## पहिला अध्याय (सत्य-दृष्टि)

**परम निरीश्वर का ईश्वर तू वीतराग का राग ।**
**बुद्धि भावना का संगम तू तू है अजड़ प्रयाग ॥**

### भगवान सत्य

भगवान एक अगम अगोचर तत्त्व है । उसने जगत बनाया है या नहीं बनाया है, वह न्यायाधीश और दंडदाता है या नहीं, ये सब दार्शनिक प्रश्न विवादापन्न हैं और अधिक उपयोगी भी नहीं है। पर सत्य के रूप में जो भगवान की मान्यता है वह उतनी विवादापन्न नहीं है जितनी कि उपयोगी है ।

भगवान मानने का मतलब यही है कि उस की कृपा से हम सुख--कल्याण की ओर बढ़ते हैं, हमारे मनमें सद्‌बुद्धि--विवेक जाग्रत होता है । इस लिये भगवान ज्ञान-मूर्ति और कल्याण--धाम है । यह तत्त्व निर्विवाद रूप में सत्य है ।

सुख हमें अकारणक नहीं मिल सकता । उसके जो जो कारण हैं उनसे ही मिलेगा । सत्य उन्हें दिखायगा और पूर्ण दर्शन के बाद क्रिया अपने आप हो ही जायगी इसलिये सत्य-प्राप्ति सुख-प्राप्ति है-दुःखनिवृत्ति है ।

भ्रम ही दुःखमूल है उसके दूर हो जाने से सब सुख मिल जाते है अथवा जो दुःख बाहर से दिखाई देते हैं वे अपने ऊपर असर नहीं डाल सकते। सुख प्राप्त हो जाय—दुःख असर न डाल सके यही तो जीवन की पूर्णता है, सार्थकता है और यह भगवान सत्यके दर्शन से ही मिल सकती है।

भगवान सत्य व्यापक और नित्य है । संप्रदाय-धर्म-मज़हब आदि उसके कपड़े हैं जो बदलते रहते हैं । अगणित सम्प्रदाय अगणित शास्त्र उसके एक अंश के बराबर भी नहीं । इस विशाल विश्व के अनन्त भूतकाल में और अनन्त भविष्य काल में कब किस कार्य से प्राणी की भलाई हुई या होगी ये अनन्त घटनाएँ कब कहां कल्याणमय हैं और कब कहां अकल्याणमय, इसकी गणना कौन कर सकता है ? इस विराट् सत्य को-अनन्त सत्य को शब्दों में या एक जीवन या कुछ जीवनों के अनुभवों में सीमित कर देना समुद्र के समस्त जल को चुल्लू मे भर लेना है । इस अहंकार के कारण लोग सत्यसे दूर ही भागते है और इस प्रकार कल्याण से दूर भागते हैं । विराट् सत्य के विषय मे अपनी अज्ञानता का ठीक ठीक ज्ञान हुए विना सत्य-प्राप्ति नहीं होती-न सर्वज्ञता मिलती है ।

तेरा कण पाकर बनते हैं जन सर्वज्ञ महान।
पर न कभी हो सकता तेरी सीमाओं का ज्ञान ॥

यहां सत्य का अर्थ सच बोलना या ज्यों का त्यों बोलना नहीं है। यह तो विराट् सत्य-अनन्त सत्य-भगवान सत्य का बहुत ही छोटा अंश है या यों कहना चाहिये कि भगवान सत्य की सहचरी भगवती अहिंसा का अंश है। भगवान के भीतर तो वे सब दृष्टियाँ, वे सब अनुभव, वे सब तर्कणाएँ और वे सब योग आजाते हैं जो सुख और सुख-पथ का प्रत्यक्ष कराते हैं।

प्रकृति नियमानुसार काम करती है। कार्य-कारण की परम्परा ध्रुव है। हम सत्य को धोखा दे तो कार्य कारण की परम्परा को धोखा देंगे। पर वह तो ध्रुव है इसलिये उसका कुछ न बिगड़ेगा-हम पिस जायेंगे। इसलिये हमें सत्य समझना चाहिये—सत्य पाना चाहिये उसके दर्शन करना चाहिये।

भगवान सत्यके दर्शन करने के लिये तीन बातो की आवश्यकता है। **१—निष्पक्षता २ परीक्षकता ३ समन्वय-शीलता।**

## १ निष्पक्षता

जिस प्रकार एक चित्र के ऊपर दूसरा चित्र नहीं बनाया जा सकता अथवा तब तक नहीं बनाया जा सकता जब तक नीचे का चित्र किसी दूसरे रंग से दबा न दिया जाय उसी प्रकार जब तक हृदय किसी पक्ष से रँगा हो तब तक उस पर सत्य की छाप नहीं बैठ सकती। मनुष्य का हृदय दो प्रकार के मोहों से रँगा रहता है इस लिये सत्य का चित्र उसपर नहीं बनता। [ क ] **कालमोह** [ ख ] **स्वत्वमोह**। इन दोनों प्रकार के मोहो का त्याग किये बिना सत्यके दर्शन नहीं हो सकते।

( क ) **कालमोह**- कालमोह दो तरह का होता है एक **प्राचीनता का मोह** एक **नवीनता का मोह**। प्राचीनता-मोही उचितानुचित का विचार नहीं करते वे प्राचीनता देख कर ही किसी बात को मान लिया करते हैं। इसलिये सत्य जब समयानुसार किसी नयेरूप में आता है तब उसका अपमान करते हैं। और पुराना रूप जब विकृत होकर असत्य बन जाता है तब भी उससे चिपटे रहते हैं। इस प्रकार वे सत्य का भोजन नहीं कर पाते और असत्य का मल [ जो कि एक दिन भोजन था ] दूर नहीं कर पाते। इसलिये प्राचीनता का मोह उनके जीवन को बर्बाद कर देता है।

प्राचीनता के मोह के दो चिन्ह हैं। **विचार सत्यका विरोध** और **प्रत्यक्ष--सत्य पर उपेक्षा या उसका श्रेयोपहरण।**

जब कोई विचारक समाज के विकारों को दूर करने के लिये या समाज के कल्याण के लिये समाजके सामने नये विचार रखता है तब प्राचीनतामोही इस विचार-सत्य का विरोध करने के लिये कमर कसता है। **प्राचीनता का मोही अवसर्पणवादी होता है।** वह सोचता है कि 'जितना कुछ सत्य था वह भूतकाल में आचुका, हमारे पुरखो को प्राप्त हो गया अब उस में कोई सुधार संशोधन या नवीनता नहीं आ सकती। यह जगत धीरे धीरे पतित हो रहा है आदि'। इन्हीं सब वासनाओ के कारण वह नवीन रूप मे आये हुए विचार-सत्य का विरोध करता है। पतन मे संतोष करता है, उन्नति के प्रयत्न को विडम्बना समझता है। नये विचारक से कहता है 'हमारे पुरखे क्या मूर्ख थे? क्या तुम्हारे बिना उनका उद्धार नहीं

हुआ ? क्या तुम उनसे वढ़कर हो ? उन्हीं की जूठन खाकर तुम पले हो अब उनसे बड़ा बनना चाहते हो, उनकी भूलें निकालते हो ?

यह प्राचीनतामोही या अवसर्पणवादी यह नहीं सोचता कि हमारे पुरखों के पास जितनी पूँजी थी वह तो हमें मिली ही है साथ ही इतने समय में जगत ने जो और ज्ञान कमाया है वह भी पूँजी के रूप मे हमें मिला है ऐसी हालत मे अगर हम व्यक्तित्व की दृष्टि से न सही पर ज्ञान-भंडार की दृष्टि से वढ़ गये हो तो इसमे आश्चर्य क्या है ? वल्कि यह स्वाभाविक या आवश्यक है।

दूसरी वात यह भी सोचने की है कि पूर्वपुरुप हमारी अपेक्षा कितने ही अधिक ज्ञानी क्यो न हों पर देश काल के अनुसार परिवर्तन या सुधार करने से उनकी अवहेलना नही होती। अगर आज वे होते तो वे भी वर्तमान देशकाल के अनुसार सुधार करते।

तीसरी वात यह है कि देशकाल के अनुसार सुधार करनेवाला जनसेवक भले ही पुराने लोगो के टुकड़े पाकर पला हो—मनुष्य बना हो पर जिस प्रकार छोटे से वीज और आसपास के कूड़े कचरे को पाकर एक महान वृक्ष वन जाता है जिसके फूल सुगंधित होते है, फल रसीले होते हैं इस प्रकार उसका मूल्य वीज से और कूड़े कचरे से कई गुणा हो जाता है उसी प्रकार पुराने टुकड़ों को पाकर भी एक सुधारक जन-सेवक महात्मा वन सकता है।

जव हम बालक थे तव माँ वाप ने उस परिस्थिति के अनुसार छोटा कोट वनवा दिया था, गरमी के दिनो मे पतला कुर्ता वनवा दिया था अव उनके मरने के वाद जीवन भर हम छोटा कोट ही पहिनें या शीत ऋतु आ जाने पर भी पतला कुर्ता ही पहिनें, अगर कोई हमें सलाह दे कि समयानुसार पोशाक वदल लेना चाहिये और हम कहें कि हमारे वाप क्या मूर्ख थे जिनने यह पोशाक वनवादी तो यह हमारा पागलपन होगा इसी तरह का पागलपन प्राचीनता-मोही मे पाया जाता है।

धर्मसंस्थाओं में भी प्रारम्भ से ही असत्य का जो काफ़ी मिश्रण हो जाता है उसका कारण जनसाधारण मे फैला हुआ प्रचंड प्राचीनता-मोह है। जव जनता प्राचीनता की छाप के विना किसी सत्यको ग्रहण करने को तैयार नहीं होती तव धर्म–संस्थाओं के संचालकों को उस नवीन या सामयिक सत्यपर प्राचीनता की छाप लगाना पड़ती है। इसलिये प्रत्येक धर्म-संस्था के संचालक किसी न किसी रूप में अपनी धर्म-संस्था का इतिहास सृष्टि के कल्पित प्रारम्भ से शुरू करते है इस प्रकार धार्मिक–सत्य देने के लिये उन्हे सिर पर ऐतिहासिक असत्य का वोझ लादना पड़ता है। और कालान्तर मे यह असत्य धार्मिक सत्य को भी दवा वैठता है पर इसका उत्तरदायित्व धर्म-संस्था के संचालको पर नही डाला जा सकता या वहुत कम डाला जा सकता है, वास्तविक दोप तो प्राचीनता-मोही जन-समाज का है।

प्राचीनता-मोहियो का दूसरा चिह्न है प्रत्यक्ष सत्य पर उपेक्षा या उसका श्रेयोपहरण। कुछ सत्य-जिन्हें प्रायः वैज्ञानिक-सत्य कहा जाता है-ऐसे स्पष्ट होते है कि उन्हें अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उनके विपय में प्राचीनतामोही उपेक्षा करता है और जहां उपेक्षा करना असंगत होता है वहां उस नवीन को प्राचीन सावित करने की चेष्टा करके नवीन के श्रेय का अपहरण करता है।

अगर किसी ने अनेकान्तवाद या स्याद्वाद का प्रणयन करके दर्शनों में समन्वय कर दिया तो प्राचीनता-मोही कहेगा 'उँह, इसमें क्या हुआ ? हम पहिले से जानते थे कि मनुष्य बाप की अपेक्षा बेटा है और बेटे की अपेक्षा बाप है। अनेकान्तवाद ने आख़िर किया क्या ?

यह प्राचीनता-मोही यह न समझना चाहेगा कि बाप बेटे की सापेक्षता व्यवहार मे रहने पर भी इनसे नित्य अनित्य, द्वैत अद्वैत आदि का समन्वय नहीं हो पाता था और बेटे का सापेक्षवाद इन दार्शनिक समस्याओं को हल नहीं कर पाता था, अनेकान्तवाद ने यही कर दिखाया। परन्तु प्राचीनतामोही या तो अनेकान्तवाद का विरोध करेंगे अथवा विरोध की असफलता पर उसे प्राचीन बताकर उसका श्रेय लूट लेंगे।

अगर किसी विद्वान ने भौतिक जगत् में सापेक्षवाद (Relativity) का आविष्कार किया और क्षेत्र कालको भी सापेक्ष और अनिश्चित कोटि में डाल दिया तो इस सिद्धान्त के महत्त्वको न समझकर या उसकी युक्तिपूर्ण आलोचना न करके प्राचीनता-मोही कह बैठेगा 'उँह' इसमें क्या हुआ। अनेकान्तवाद हमारे यहाँ है ही, सापेक्षवाद में फिर रहा क्या ? वह शब्द की समानता बता कर इस विशेष आविष्कार के महत्त्व को नष्ट कर देना चाहेगा। अगर किसी विद्वान ने विद्युत की किरणो मे शब्द की लहरें पैदा कर उनको सुनने लायक बना दिया तो प्राचीनतामोही इस आश्चर्यजनक सत्य पर उपेक्षा करके कहेगा--ऊँह, इसमे क्या हुआ ? हम पहले से ही जानते थे कि पुद्गल पुद्गल सब एक है। इसलिये प्रकाश और शब्द परस्पर बदल गये तो इसमे नई बात क्या हुई ? हमारे शास्त्रकारो को यह सब मालूम था।

अगर किसी ने वायुयान बनाया तो प्राचीनतामोही को यह सब अपने शास्त्रों में दिखाई देने लगेगा। प्राचीनतामोही सामान्य और विशेष के मूल्य, महत्त्व और उपयोगिता का अंतर भुला देता है।

वह यह भूल जाता है कि संसार मे ऐसे बहुत से सिद्धान्त हैं जिनका पता मनुष्य ने तभी लगा लिया था जब वह पशु से मनुष्य बना था, परन्तु उस क्षुद्र सामान्य ज्ञान के बाद मनुष्य ने जो लाखों करोड़ों विशेषताओं का ज्ञान किया है उनकी महत्ता उस क्षुद्र सामान्य ज्ञान में नहीं समा जाती। सारे विश्व को सद्रूप जान लेना एक बात है और उसकी अगणित विशेषताओं को जान लेना दूसरी। इन विशेष ज्ञानो की उपयोगिता सामान्य ज्ञान से पूर्ण नहीं हो सकती। परन्तु प्राचीनता मोही अपने प्राचीनता के मोह के कारण सामान्य ज्ञानों को इतना महत्व दे देता है कि विशेष ज्ञानो की क़ीमत और उसका महत्व उसके ध्यान मे नहीं आता।

प्राचीनता के मोह को अड्डा जमाने के लिये एक बात और सहायक हो जाती है। संसार आविष्कार रूप सूर्योदय के पहले कल्पनारूपिणी उषा का दर्शन करता है। आज जो आविष्कार हो रहे है-मानव समाज के हृदय मे सैकड़ो वर्ष पहले ही उनकी कल्पनाएँ अड्डा जमा चुकीं थीं। जैसे मनुष्य ने पक्षियो को उड़ता देख कर मनुष्यो मे उड़ने की कल्पना की। वह स्वयं तो उड़ नहीं सकता था इसलिये उसने कल्पना सृष्टि मे परियो की, गरुड़ आदि पक्षि-वाहनों की, दिव्य और यांत्रिक विमानो की कल्पना की। कल्पना के कोई लगाम तो होती नही इसलिये वह मनचाही दौड़ती है। जहां चाह हुई-यदि ऐसा होता तो कितना अच्छा

था—वहां मनने उसकी पूर्ति कर दी, ये ही सब कल्पनाएँ पहले तो अवतारी-पुरुषों और देवता आदि के विषय में रहीं, पीछे प्रयत्न करते करते सैकड़ों वर्षों की तपस्या के बाद मनुष्य ने इन्हें प्रत्यक्ष पा लिया। आविष्कारका यह साधारण नियम है कि पहले वह कल्पना में आता है—पीछे दुनिया के सामने प्रत्यक्ष होता है। आविष्कार के इतिहास के साधारण नियम को भूल कर प्राचीनता-मोही कल्पनाओं को इतिहास बना लेता है फिर नवीनता के सत्य की अवहेलना करता है।

प्राचीनता के मोह से विचार-सत्य का विरोध करके, प्रत्यक्ष-सत्य पर उपेक्षा करके या उसका श्रेयापहरण करके, मनुष्य अपनी उन्नति का द्वार बंद कर देता है। जीवन का चिह्न ही यह है कि वह नये भोजन को खा सके और पुराने भोजन के मल को दूर कर सके। इन में से अगर एक भी क्रिया बंद हो जाय तो मौत हो जाती है। प्राचीनता-मोही इसी तरह मौत के पंजे मे पड़ जाता है। न वह नया सत्य ग्रहण कर सकता है और न पुराने विकारों को हटा सकता है। जिस समाज में इस प्रकार के प्राचीनता-मोहियों की प्रबलता रहती है उस समाज का विकास ही नहीं रुक जाता किन्तु उसका जीवन भी मुर्दोसे बाजी लेने लगता है। वहाँ निराशा ही छाई रहती है। किसी कैदी को मृत्यु--दंड की आज्ञा सुना कर अगर किसी जेल में बंद कर दिया जाय तो उसके जीवन की घड़ियाँ जिस प्रकार निराशा और दुःख मे व्यतीत होंगी उसी प्रकार प्राचीनता-मोही समाज का जीवन भी होगा। वह अपने अवसर्पण-वाद के कारण पतन की आशा लगाये बैठा रहेगा। दूसरों को आगे बढ़ते देखकर वह उनकी नकल करेगा और उनके पीछे घिसटेगा पर स्वस्थ मनुष्य की तरह चल न सकेगा। यह प्राचीनता का मोह इस प्रकार मनुष्य को बिलकुल अंधा और अकर्मण्य बना देता है।

प्राचीनता के मोह को नष्ट कर देने का मतलब हरएक प्राचीन वस्तु को नष्ट कर देना नहीं है—आवश्यक और समयोपयोगी तत्व चाहे नवीन हो या प्राचीन हमें ग्रहण करना चाहिये। फिर भी इतना कहना आवश्यक है कि जहां अन्य सब बातें समान हों और प्राचीन और नवीन में से किसी एक का चुनाव करना हो तो हमें नवीन को चुनना चाहिये। क्योंकि प्राचीन की अपेक्षा नवीन में तीन विशेषताएँ रहती हैं।

१--नवीन हमारी वर्तमान परिस्थिति के निकट होने से प्राचीन की अपेक्षा हमारी परिस्थिति के अधिक अनुकूल होता है।

२-यह स्वभाव है कि ज्यों ज्यों समय जाता है त्यों त्यों मूलवस्तु विकृत या परिवर्त्तित होती जाती है। इसलिये नवीन की अपेक्षा प्राचीन को विकृत होने के लिये समय अधिक-मिलता है इसलिये प्राचीन की अपेक्षा नवीन कुछ शुद्ध रहता है।

३ प्राचीन के कर्ता को जितना अनुभव और साधन-सामग्री मिलती है नवीन के कर्ता को उससे कुछ अधिक मिलती है इसलिये नवीन कुछ अधिक सत्य या अधिक पूर्ण रहता है।

इसका यह मतलब नहीं है कि जितना नवीन है सब अच्छा है। तात्पर्य इतना ही है कि प्राचीन की अपेक्षा नवीन को अच्छा होने का अधिक अवसर है। हो सकता है कि किसी नवीन में अधिक अवसर का ठीक ठीक या पूरा उपयोग न हो और किसी प्राचीन मे कम अवसर का भी उचित उपयोग हुआ हो इसलिये

कहीं कोई प्राचीन नवीन से अच्छा हो। पर इस अच्छेपन का कारण उसकी प्राचीनता न होगी किन्तु अवसर का या प्राप्त--सामग्री का उचित उपयोग होगा।

नवीन में प्राचीन की अपेक्षा यद्यपि तीन विशेषताएँ रहतीं हैं फिर भी नवीनता को सत्या-सत्य निर्णय की कसौटी न बनाना चाहिये। प्राचीनता का मोह जैसे सत्य-दर्शन में बाधक है वैसे ही **नवीनता का मोह भी सत्यदर्शन में बाधक हो जाता है।**

नवीन हो जाने से ही कोई चीज़ प्राचीन से अच्छी नहीं हो जाती। कभी कभी प्राचीन विकृत होकर नवीन रूप धारण करता है। धर्मों के इतिहास मे ऐसी बहुत सी बातें मिलेंगी कि जो धर्म मूल में अच्छे थे वे पीछे विकृत हो गये। पर पीछे का विकृत नवीनरूप नवीनता के कारण अच्छा नहीं हुआ।

कभी कभी मनुष्य को नवीन से फिर प्राचीन की ओर जाना पड़ता है ऐसे अवसर पर नवीनता-मोही प्राचीनता से घृणा के कारण प्राचीनता की ओर नहीं जाना चाहता। जैसे वैदिक धर्म की आश्रम-व्यवस्था पुरानी चीज़ है आज नष्ट हो चुकी है, अब फिर कोई उसकी स्थापना करना चाहे तो प्राचीन होने के कारण ही वह असत्य न हो जायगी।

इसलाम में व्याज लेने की मनाई है पर यह विधान पुराना पड़ गया है। अब आज कोई व्याज को बन्द करना चाहे तो यह प्राचीनता के कारण अनुचित न हो जायगा।

जैनियो और बौद्धो ने मूर्त्ति-पूजा को व्यवस्थित और व्यापक रूप दिया, पीछे परिस्थिति बदल जाने से उसका विरोध हुआ जो कि अभी तक चालू है। अब कोई उसको फिर व्यवस्थित और व्यापकरूप देना चाहे तो प्राचीन होने के कारण ही वह असत्य न हो जायगा।

कभी एकतन्त्र से प्रजातंत्र और कभी प्रजा-तंत्र से एकतन्त्र पर आना पड़ता है। पुरानी चीज़ का पुनरुद्धार होते देखकर नवीनता-मोही को घबराना न चाहिये। प्राचीन अगर उपयोगी है तो वह नवीन ही है। सर्वथा नवीन असम्भव है।

इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे तत्त्व हैं जो कभी पुराने नहीं पड़ते। सत्य, अहिंसा, मैत्री, दान, त्याग ईमानदारी, विनय, समभाव और प्रार्थना आदि पुराने से पुराने होकर भी नये से नये हैं। इनके प्रगट करने की भाषा बदल सकती है पर ये तो सदा नये हैं। एक समय का सार्थक क्रिया-कांड समय बीतने पर निष्प्राण हो जाता है फिर समय बदलने पर प्राणवान क्रियाकांड लाना पड़ता है। इसलिये प्राचीनता के समान नवीनता की बीमारी भी दूर करना चाहिये।

काल-मोह चाहे प्राचीनता का हो या नवीनता का-सत्यदर्शन मे बाधक है। हमें नये पुराने का विचार न करके यही देखना चाहिये कि कल्याणकर क्या है? **जो कल्याणकर हो उसे अपनाना चाहिये फिर चाहे वह नया हो या पुराना।**

**(ख) स्वत्वमोह**- सत्य--दर्शनेच्छुकों का यह विचार रहता है कि जो सच्चा वह हमारा, परन्तु स्वत्व-मोही इससे उल्टा होता है। वह कहता है जो हमारा वह सच्चा। बल्कि कभी कभी यह मोह इतना प्रबल हो जाता है कि जो हमारा वही सच्चा। अपने सिवाय वह दूसरी जगह सच मानता ही नहीं। अगर कभी कहीं सत्य दिखाई दिया तो

वह यह सिद्ध करने की कोशिश करता है कि यह सब हमारे घर की चोरी है। अमुक देशके वैज्ञानिक लोक जो आविष्कार करते हैं वह सब हमारे ग्रंथों में लिखा है उन्हें पढ़कर उन लोगों ने आविष्कार कर लिये है। वे यह नहीं सोचते कि शताब्दियों से जिन ग्रंथों को तुम पढ़ रहे हो उनमें तुम्हें आज तक जिन आविष्कारों की गंध तक न आई वे दूसरों को वहां कहां से मिल गये? ऐसे लोगों को अगर यह मानना पड़े कि नहीं यह सब तुम्हारे ग्रंथों में नहीं हैं तो वे उस सत्य को मानना अस्वीकार कर देंगे इस प्रकार यह स्वत्व-मोह सत्य-दर्शन में बाधक होजायगा।

कुछ लोगों का स्वत्व-मोह कुछ दूसरे तरह के शब्दों से प्रगट हुआ करता है। वे कहा करते है–'विज्ञान की सब खोजें हमारी मान्यताओं का समर्थन करतीं हैं। यह स्वाभाविक है कि विशेष आविष्कार सामान्य मान्यता का समर्थन करे पर वह सैकड़ों भ्रमो का उच्छेदन भी करता है। स्वत्व-मोही उच्छेदन की बात पर तो ध्यान नहीं देता और एकाध सामान्य बात को पकड़ कर वह अपने गीत गाने लगता है। उसे सत्य से प्रेम या भक्ति नहीं होती किन्तु अपनी वस्तु का मोह होता है जोकि एक तरह से अहंकार का परिणाम कहा जा सकता है। वह सत्यको सत्य समझ कर नहीं मानता किन्तु अपना समर्थक समझ कर मानता है। अगर अपना समर्थक नहीं है तो वह मानने को तैयार नहीं है। अपने ग्रंथ सम्प्रदाय, मत आदि का मोह भी स्वत्व-मोह है -जो कि सत्य-दर्शन में बाधक है। बहुत से पंडित अर्थ पहिले मान बैठते हैं फिर कोष और व्याकरण का कचूमर बना बना कर शब्दों से इच्छित अर्थ खींचते रहते हैं। कोई भी वाक्य हो वे किसी न किसी तरह से अपनी बात सिद्ध करना चाहते हैं। इसलिये अवसर के बिना ही अलंकार, एकाक्षरी-कोष आदि का उपयोग करते है और सीधे तथा प्रकरण-संगत अर्थ को छोड़कर कुटिल अर्थ निकाला करते है। यह मतमोह भी स्वत्वमोह है।

बहुत से लोग तो सिर्फ़ इसीलिये किसी सत्य को अपनाने को तैयार नहीं होते कि वह हमारे नाम का नहीं है। सत्यसमाज के सिद्धान्तों को जान कर बहुत लोगों ने उन्हें माना पर वे इसी-लिये प्रगट मे समर्थन न कर सके, न उसके प्रचार में सहायता कर सके कि वे सिद्धान्त उनके सम्प्रदाय के नाम पर न कहे गये थे। वे अपने सम्प्रदाय के नाम पर कुछ दोषों को भी सहलेने को तैयार थे परन्तु अगर उनके नाम की छाप न हो तो वे परम सत्य से भी घृणा या उपेक्षा करने को तैयार थे। ऐसे लोग सत्य की खोज नहीं कर सकते। सत्य के खोजी को स्वत्व-मोह -जिसे नाम-मोह भी कहा जा सकता है-से दूर रहना चाहिये। इस प्रकार दोनों प्रकार के मोहों का त्याग करने मे मनुष्य मे निष्पक्षता पैदा होती है। भगवान सत्य के दर्शन के लिये निःपक्षता एक आवश्यक गुण है।

## २ परीक्षकता

भगवान सत्य के दर्शन की योग्यता के लिये दूसरा आवश्यक गुण परीक्षकता है। जो आदमी परीक्षक नहीं है वह सत्य के दर्शन नहीं कर सकता। वह किसी बात को माने या न माने उसके मत का कुछ मूल्य नहीं है। तुम यह क्यों मानते हो? क्योंकि हमारे बाप मानते थे इस उत्तर में कोई जान नहीं है। बाप की मान्यता से ही किसी बात को मानने मे मनुष्य होने का

कोई ज्ञान-लाभ न हुआ। बाप हिन्दू था सो हिन्दू होना सत्य, बाप मुसलमान था सो मुसलमान होना सत्य, बाप मनुष्य था सो मनुष्य होना सत्य, और बाप पशु होता तो पशु होना सत्य, यह मानव की विचारधारा नहीं है यह तो एक तरह की जड़ता है। ऐसी जड़ता के साथ भगवान सत्यके दर्शन नहीं होते। उसके लिये परीक्षकता चाहिये। और परीक्षकता के लिये तीन बातें अवश्य चाहिये-१ **बुद्धिमत्ता २ अदीनता ३ प्रमाणज्ञान।**

**बुद्धिमत्ता**--यह परीक्षक होने के लिये पहिली बात है। सत्यदर्शन करने के लिये जिस बुद्धिमत्ता की ज़रूरत है वह उतनी दुर्लभ नहीं है जितनी लोग समझते है। सत्य के दर्शन करने की बौद्धिक योग्यता प्रायः फीसदी अस्सी आदमियों में होती है। यह हो सकता है कि वे कठिन भाषा न समझ सकें, भाषाओं के पंडित न हों, उन्हें पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान न हो, पर इससे विशेष हानि नहीं है। सत्य का दर्शन कल्याणपथ का दर्शन है, अगर सरल भाषा मे समझाया जाय तो प्रायः हरएक आदमी को उस की भलाई बुराई समझाई जा सकती है। अगर उसे समझ मे नहीं आती तो इसका कारण बुद्धि का अभाव नहीं किन्तु उसके कुसंस्कार हैं। अगर कुसंस्कार दूर हो जाँयँ, निष्पक्षता आ जाय तो विद्या सम्बन्धी थोड़े ही सहयोग से मनुष्य इतना बुद्धिमान हो जाता है कि वह सत्यदर्शन कर सके। सत्यदर्शन के लिये विशाल पांडित्य की ज़रूरत नहीं है किन्तु प्राप्त-बुद्धि को उपयोगशील बनाने की ज़रूरत है। यही उपयोगशीलता बुद्धिमत्ता है।

**अदीनता**-बहुत से लोगों मे बुद्धिमत्ता होने पर भी एक तरह की दीनता रहती है जिस से वे धर्म की, शास्त्र की और गुरु की परीक्षा करने मे अपने को असमर्थ समझते हैं। धर्म के चलाने-वाले तो असाधारण महापुरुष थे, शास्त्रकारों का पांडित्य अगाध था, गुरुदेव की गुरुता तो असीम है, हम तो बहुत क्षुद्र हैं, भला हम में परीक्षा करने की क्या लियाकत है? इस प्रकार की दीनता से वे रूढ़ि-भक्त बन जाते हैं, इसलिये वे रूढ़ि के दर्शन तो कर लेते हैं पर सत्य के दर्शन नहीं कर पाते।

**प्रश्न**-यह तो एक प्रकार का विनय है और विनय तो आवश्यक गुण है इसे आप सत्यदर्शन मे बाधक क्यों समझते हैं?

**उत्तर**-विनय और दीनता में अन्तर है। **विनय गुणानुराग और कृतज्ञता का फल है और दीनता निर्बलता का फल है।** विनयी मनुष्य निर्बल या क्षुद्र भी हो सकता है पर उसका विनय निर्बलता या क्षुद्रता का परिणाम न होगा। उसमें निर्बलता रहे या न रहे वह गुणानुराग या कृतज्ञता के कारण विनय करेगा ही, पर दीन मे गुणानुराग मुख्य नहीं है निर्बलता मुख्य है। निर्बलता के हटने पर उसकी दीनता हट जायगी। इसलिये विनय के समान मालूम होने वाला व्यवहार भी हट जायगा।

**शंका**-तब तो दीनता को चापलूसी कहना चाहिये।

**समाधान**-दीनता और चापलूसी मे भी अन्तर है, **चापलूसी में वंचना है, दीनता में वंचना नहीं है।** चापलूसी मे सिर्फ़ अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिये किसी को खुश करने का प्रयत्न किया जाता है और झूठी प्रशंसा भी की जाती है। अगर प्रशंसा सच्ची भी हो तो भी चापलूस को सत्यासत्य की पर्वाह नहीं होती।

दीनता में किसी को महान् अवश्य समझा जाता है पर उसमें किसी को खुश करके स्वार्थ सिद्ध करने की लालसा नहीं होती। **दीनता परीक्षक बनने में बाधा नहीं डालती- सिर्फ उसके प्रगट करने में बाधा डालती है।** इस प्रकार दोनों में काफी अन्तर है। हां यह हो सकता है कि एक मनुष्य दीन भी हो और चापलूस भी हो। पर इससे तो इन दो दुर्गुणों की निर्विरोधता ही समझना चाहिये--एकता नहीं।

**शंका**—पर बड़े बड़े शास्त्रकारों की, महापुरुषों की परीक्षा की बातें करना छोटे मुँह बड़ी बात है। अगर मान लिया जाय कि आजकल ऐसे विद्वान हैं जो पहिले के शास्त्रकारों से भी बड़े हैं तो भी हर एक आदमी तो बड़ा नहीं हो सकता वह शास्त्रों की या गुरु आदि की परीक्षा कैसे करे?

**समाधान**—जिसकी हम परीक्षा करते हैं उससे हमें बड़ा होना चाहिये ऐसा कोई नियम नहीं है। परीक्षा दो तरह की होती है-एक **वस्तु परीक्षा** दूसरी **कर्तृत्व परीक्षा**। वस्तु परीक्षा में वस्तु के गुणागुण का ही विचार रहता है, किसी के कर्तृत्व-अकर्तृत्व का विचार नहीं रहता। इस परीक्षा में अपने गुणों के साथ वस्तु के गुणों की तुलना नहीं करना पड़ती। सोना, चाँदी, हीरा आदि की परीक्षा करते समय यह तुलना का विषय नहीं है कि परीक्षक गुणों में सोने, चाँदी आदि से बड़ा है या नहीं? इसलिये इस परीक्षा में परीक्ष्य--परीक्षक के बड़े छोटे का सवाल ही नहीं है।

कर्तृत्व-परीक्षा में ऐसी तुलना हो सकती है। पर कर्तृत्व—परीक्षा भी दो तरह की होती है-एक **मग्न परीक्षा** दूसरी **अमग्न परीक्षा**। मग्न-परीक्षा वह है जिसमें परीक्षक के कर्तृत्व में परीक्ष्य का कर्तृत्व डूब जाता है-छोटा रहता है। जैसे एक अध्यापक विद्यार्थी की परीक्षा लेता है तो अध्यापक के कर्तृत्व में विद्यार्थी का कर्तृत्व मग्न हो जाता है डूब जाता है।

अमग्न परीक्षा में यह बात नहीं होती उसमें परीक्षक का कर्तृत्व परीक्ष्य से छोटा रहता है फिर भी परीक्षकता में हानि नहीं होती। जैसे रसोई बनानेवाले ने रसोई स्वादिष्ट बनाई कि नहीं इसकी परीक्षा वह भी कर सकता है जो रसोई बनाने के कार्य में बिलकुल अजान हो।

इसी प्रकार कोई स्वयं तो गर्दभराग में ही क्यों न गाता हो पर अच्छे से अच्छे गायक की परीक्षा कर सकता है, स्वयं नाचना न जानकर भी नृत्यकार की परीक्षा कर सकता है, यहां तक कि रोगी वैद्यक का बिलकुल ज्ञान न रखते हुए भी वैद्य की परीक्षा कर सकता है।

इसका यह मतलब नहीं है कि अमग्न-परीक्षा में योग्यता की बिलकुल आवश्यकता नहीं है, उसमें कर्तृत्व भले ही न हो पर अनुभव करने की योग्यता अवश्य हो। जैसे-रोगी वैद्यक भले ही न जाने पर चिकित्सा से आराम हो रहा है या नहीं इतना अनुभव तो उसमें होना ही चाहिये। इसी प्रकार अन्य परीक्षाओं की भी बात है।

इस प्रकार अगर हमें शास्त्रों की या शास्त्रकारों की या गुरुओं की परीक्षा करना हो तो यह आवश्यक नहीं है कि हम उनसे भी बड़े शास्त्रकार या विद्वान हों। पर यह जानने की आवश्यकता अवश्य है कि उनके उपदेशादि जीवन में कितनी शान्ति पैदा करते है, वे कितने बुद्धिसंगत हैं आदि। इसी तरह से हम धर्मों की, शास्त्रों की और शास्त्रकारों की परीक्षा कर सकते हैं।

यह तो हुई सर्वसाधारण की बात। पर सत्य-खोजी में यह अवसर्पणवाद न हो तो यह और भी अच्छा। मनुष्य के हृदय मे जहां यह विश्वास हुआ कि हम तो धीरे धीरे गिरते जा रहे है, पहिले लोगों के पास जो ज्ञान था वह हममें नहीं है, किसी भी तरह हम उनसे बढ़ नहीं सकते, तो उसका विकास रुक जाता है। पूर्व पुरुषों को महान पूज्य परमोपकारी मानना उनका यशोगान करना-पूजा करना बुरा नहीं है पर उन्हे सर्वज्ञ मान बैठना असत्य है, अनुचित और अकल्याणकारी है। सर्वज्ञता की मान्यता जब मनमें पैठ जाती है तब वह किसी व्यक्ति मे सर्वज्ञता भी मान बैठती है फिर उसके विषय मे अन्ध-विश्वास और पक्षपात होना स्वाभाविक है। जहां अन्ध विश्वास और पक्षपात है वहां परीक्षकता नहीं आ सकती! किसी व्यक्ति में असाधारण अनुभव असाधारण विद्वत्ता और परोपकारशीलता आदि मानने में हानि नहीं है पर सर्वज्ञ मानना अनुचित है।

ख़ैर, यहां तो इतनी बात ही कहना है कि हमें अपने में ऐसी दीनता न रखना चाहिये जो सत्यासत्य-निर्णय मे हमारी योग्यता को प्रगट न होने दे। विनय, भक्ति आदि रखते हुए भी इस प्रकार की अदीनता परीक्षकता के लिये आवश्यक है।

**प्रमाणज्ञान**—परीक्षक होने के लिये तीसरी आवश्यकता प्रमाण-ज्ञान की है। बहुत से लोग परीक्षा करने बैठते है पर परीक्षा करने के शस्त्र ही उनके ठीक नही होते इसलिये वे परीक्षा के लिये शक्ति लगाकर भी परीक्षक नहीं बन पाते। अमुक शास्त्र मे तो यो लिखा है फिर तुम्हारी बात कैसे माने? अथवा यह बात प्रत्यक्ष मे दिखती नही फिर कैसे माने? अथवा तर्क से क्या होता है? इस तरह किस प्रमाण का कहा क्या उपयोगिता है इसका पता जिन्हे नही लगता वे परीक्षक नहीं हो सकते। इसलिये हर एक प्रमाण का बलाबल आदि जानना आवश्यक है।

**शास्त्रका उपयोग**—शास्त्र एक उपयोगी और आवश्यक प्रमाण है पर पूर्ण विश्वसनीय नहीं। जैसे न्यायालय मे गवाहो का स्थान होता है वैसा ही सत्य के न्यायालय में शास्त्रका स्थान है। शास्त्र के वचन का यही अर्थ है कि अमुक व्यक्ति अमुक बात कहता है। पर वह आदमी कितना भी पुराना और महान क्यो न हो उसके कहने से ही कोई बात सिद्ध नहीं हो जाती। इसलिये शास्त्र किसी बात को सिद्ध करने मे अक्षम है।

परन्तु शास्त्र का अगर बिल्कुल उपयोग न किया जाय तो सत्य की खोज कठिन हो जाती है। शास्त्र प्रागैतिहासिक काल से प्राप्त हुए अनुभवो के संग्रह के समान है। यह हो सकता है कि उनमे कई अनुभव भ्रमपूर्ण हैं या विकृत है परन्तु अगर उन अनुभवो पर बिल्कुल विचार न किया जाय तो मनुष्य मनुष्य कहलाने योग्य ही न रहेगा। इसलिये शास्त्रो पर उपेक्षा नही की जा सकती। उनपर विचार अवश्य करना चाहिये। शास्त्र की किसी बात को प्रमाण मानते समय ये तीन बातें देख लेना चाहिये।

१ वह किसी दूसरे प्रबल प्रमाण [ प्रत्यक्ष तर्क ] से खंडित न होती हो।

२ देशकाल परिस्थिति का विचार करते समय सम्भव मालूम हो। (बहुत सी बाते आज सम्भव है पर पुराने समय मे सम्भव नही थी उस समय सिर्फ़ कल्पना, आकांक्षा, अतिशयोक्ति आदि के कारण शास्त्र मे लिख दी गई थी वे आज सम्भव होने पर भी जब तक उनका साधक कोई

प्रबल प्रमाण न मिलेगा तब तक पुराने ज़माने में वे असम्भव ही समझी जाँयगी )

३ अहितकर न हो।

जो बातें प्रत्यक्ष या अनुमान से सिद्ध हैं उनकी बात दूसरी है वे तो मान्य हैं ही, परन्तु जो प्रत्यक्ष, अनुमान से सिद्ध नहीं हो सकती वे अगर विचार के लिये हमारे सामने आ जाँय तो हमें उक्त तीन बातें देखलेना चाहिये।

**अनुभवकी दुहाई**--किसी बात के समर्थन में बहुत से लोग अनुभव की दुहाई दिया करते हैं। अनुभव एक प्रबल प्रमाण है परन्तु कल्पना के स्वप्नों को अनुभव कहने का कोई अर्थ नहीं। ऐसे अनुभव अपने लिये ही उपयोगी हो सकते हैं या अपने अनुयायियों के लिये उपयोगी हो सकते है पर दुनिया के लिये नहीं हो सकते। फिर भी शास्त्र की अपेक्षा इसका स्थान अधिक है।

जीवन व्यवहार में या मानव-प्रकृति के अभ्यास में जो अनुभव मिलता है उसका मूल्य बहुत अधिक है। बहुत से लोग दूसरों के विषय में 'ऐसा होने से ऐसा हो जायगा' इस प्रकार लम्बी कल्पना सृष्टि कर डालते हैं और इसे तर्क भी कहने लगते हैं पर यह तर्क नहीं है यह सिर्फ़ कल्पना है इसका मूल्य अनुभव की अपेक्षा बहुत कम होता है। अनेक प्रकार के मनुष्यों से काम पड़ने में, मानव-प्रकृति के अभ्यास से जो अनुभव मिलता है वह इन कल्पनाओं में बहुत मूल्यवान है, उसमें पर्याप्त प्रामाणिकता भी है। पर ऐसे अनुभव भी अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार कुछ भिन्न भिन्न होते हैं और सब मनुष्यों की प्रकृति भी एकसी नहीं होती इसलिये उसमें 'प्राय:' रूपमें तो कोई बात कही जा सकती है पर निश्चित रूपमें नहीं; फिर भी इस 'प्राय.' का काफ़ी उपयोग होता है। इन्हें उपमान--प्रमाण कहना चाहिये। उपमान कार्य--कारण या स्वभाव का निश्चित सम्बन्ध नहीं होता पर अनेक स्थानों की समानता से एक नये स्थानपर सम्भावना की जाती है। जो व्यवस्था में पर्याप्त उपयोगी है।

**प्रत्यक्ष का उपयोग**--प्रत्यक्ष एक तरह का अनुभव ही है पर यहां मैंने अनुभव शब्द से एक तरह का मानस--ज्ञान लिया है। जब की प्रत्यक्ष शब्द से इन्द्रिय प्रत्यक्ष लिया है। अनुभव और शास्त्र की अपेक्षा इस की प्रामाणिकता अधिक है। पर प्रत्यक्ष के विषय विवादापन्न बहुत कम होते हैं इसलिये इसकी उपयोगिता कुछ कम है। पर किसी शास्त्र, अनुभव या तर्क के विषय की जाँच करने के लिये इसकी उपयोगिता अधिक है। प्रबलता में यह सर्वश्रेष्ठ माना जाता है यद्यपि कभी इसकी जाँच भी दूसरे प्रमाणों से करना पड़ती है।

**तर्कका स्थान**--यह सब से अधिक व्यापक और प्रबल प्रमाण है। **तर्क अनुभवों या प्रत्यक्षोंका निचोड़ है**। प्रत्येक धर्मका तीर्थंकर अथवा प्रत्येक क्रान्तिकारी तर्क के बलपर ही अपने विचार जगत् के सामने रखता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने वचन या शास्त्र के अच्छेपनके विषय में युक्तियुक्तता की ही मुख्य दुहाई देता है यदि वह ऐसा न करे तो अन्धश्रद्धा में पड़ा हुआ समाज उसकी बात सुने ही क्यों?

परन्तु उसके बाद उसके अनुयायिओं में यह तर्कप्रियता नहीं रहती। तर्क अगर आये हुए या अवशिष्ट विकार को दूर करे तो अनुयायी उसको सहन नहीं करते। उनका तर्क परम्परागत बातों के समर्थन में ही ख़र्च होता है। जब वह परम्परागत बातों के समर्थन में अक्षम रहता है वह तर्क या युक्तियुक्तता की निःसारता की

घोषणा करने लगता है। कहने लगता है।

"उँह तर्क से क्या होता है वह तो बुद्धि का खेल है जैसा बनाओ बन जाता है। मानवी बुद्धि परिपूर्ण वस्तु नहीं है। आज तर्क से एक बात सिद्ध होती है कल वही खंडित हो जाती है असली और दृढ़ वस्तु तो भावना और श्रद्धा है तर्क तो भावना का दास है-भावना स्वामिनी है। तर्क-शास्त्री महीनों में उतना काम नहीं कर पाते जितना श्रद्धालु दिनों मे कर जाते है या भावुक कर जाते है। तर्क का या बुद्धि का क्षेत्र ही सीमित है उसके निर्णय अस्थिर हैं आदि।"

भावना और बुद्धि दोनों ही जीवन के लिये अति उपयोगी है। दोनों ही अपूर्ण हैं जो कुछ है उसीसे हमें काम चलाना है। हां यह निश्चित है कि भावना की अपेक्षा बुद्धि विशाल है और तथ्यातथ्य निर्णय के कार्य मे भावना की अपेक्षा बुद्धि में प्रामाणिकता अधिक है। भावना से हम जितना धोखा खाते हैं बुद्धि से उससे बहुत कम खाते हैं। भावना में हमारी इच्छा से अधिक और वस्तु से कम सम्बन्ध रहता है बुद्धि या तर्क मे इससे उल्टी बात है। भावना के द्वारा बैठे बैठे आसमान के कुलावे मिलाते रहिये जो वस्तु असंभव हो उसकी भी कल्पना करते रहिये परन्तु वस्तु की प्राप्ति के समय हमें धोखा खाना पड़ेगा जब कि बुद्धि मे यह बात न होगी। उसका निर्णय सकारणक है, वहां हेतु है जो कि वस्तु से सम्बन्ध रखता है जब कि भावना इसकी पर्वाह नहीं करती इससे धोखा खाना पड़ता है।

भावना को स्वामिनी या साम्राज्ञी समझने मे कोई आपत्ति नहीं है पर बुद्धि या तर्क को दास न बनाना चाहिये उसे मंत्रीपद देना चाहिये। दास का काम स्वामी की इच्छा के अनुसार नाचना होता है जब कि मंत्री मालिक की इच्छा के अनुसार नहीं हित के अनुसार सलाह देता है। हां, मानना न मानना मालिक के हाथ में है। परन्तु राजा का अधिकार अधिक होने से मंत्री की विशेषता उसे नहीं मिल जाती इसलिये निर्णय करने में भावना की अपेक्षा बुद्धि तर्क अधिक काम कर सकता है। हां, उस निर्णय को कार्य-परिणत करने मे भावना ही अधिक उपयोगी है। जो राजा मंत्री की अवहेलना किया करता है वह राज्य खो बैठता है उसी प्रकार जिनकी भावना तर्क की अवहेलना करती है वे जीवन बर्बाद कर बैठते हैं।

यह बात ठीक है कि भावना की अपेक्षा तर्क का काम कठिन और धीमा है पर उसके मूल्य मे भी अन्तर है। भावना ने कल्पना द्वारा थोड़े ही समय में ब्रह्मांड का अन्त पालिया, उसने सूर्य का रथ, सारथी, घोड़े आदि जान लिये. शेष नाग के सिरपर रखी हुई पृथ्वी देखली, देवताओं के द्वारा खिंचते हुए तारे देख लिये, इस प्रकार भोले हृदय की सारी जिज्ञासाएँ शान्त कर दीं। परन्तु वास्तविकता के क्षेत्र में इसका कुछ भी मूल्य नहीं हुआ बल्कि सत्यान्वेषण के कार्य में इससे बाधा ही उपस्थित हुई। परन्तु इसमे अपराध भावना का नहीं है हमारा है। हम हथौड़े का काम हाथ से लेते है इससे काम तो होता नहीं ह हाथ ही घायल होकर हथौड़ा पकड़ने के काम का नहीं रहता। बुद्धि या तर्क का काम भावना से लेने पर ऐसा ही होना है। इसलिये तर्क के स्थान में भावना का उपयोग न करना चाहिये। और वस्तु-तत्त्व के निर्णय में तर्क को प्रधानता देना चाहिये।

तर्क के निर्णय उच्छृंखल या अस्थिर नहीं होते। वह कार्य-कारण या वस्तु-स्वभाव के नियत

सम्बन्ध पर अवलम्बित है। वह अनुभव के मार्ग में रोड़ नहीं अटकाता न सच्चे अनुभव का विरोध करता है। जहां उसकी गति नहीं होती वहां अपने आप अटक जाता है परन्तु अनुभव के नाम पर जो तथ्यहीन कल्पनाएँ उठतीं हैं उन का विरोध अवश्य करता है। इस बात को समझने के लिये कुछ उदाहरण उपस्थित करना ठीक होगा।

विश्व कितना बड़ा है, इस प्रश्न का उत्तर तर्क अभी नहीं दे सकता, क्योंकि करोड़ों मीलों से जो किरणें आती हैं उनसे सिर्फ़ इतना ही मालूम होता है कि करोड़ों मीलों तक विश्व है, परन्तु ऐसा कोई चिह्न नहीं मिलता जो शून्यता का सूचक हो। इसलिये तर्क विश्व की सीमा बताने में अभी अक्षम है। परन्तु जब उससे कोई पूछे कि जगह [ space ] का अन्त है कि नहीं? तब वह कहेगा—जगह का अन्त नहीं आ सकता, क्योंकि जगह की सीमा को निर्धारित करने वाला जो भी कुछ होगा, उसके लिये भी जगह की आवश्यकता होगी। इस प्रकार जगह की सीमा के बाद भी जगह सिद्ध हो गई, इसलिये तर्क ने जगह को अनन्त कह दिया।

इसी प्रकार वह कालको भी अनन्त सिद्ध कर देगा। परन्तु ज्ञान की अनन्तता का वह खण्डन ही करेगा, क्योंकि ज्ञान को अनन्त मान लेने में पदार्थ को सान्त मानना पड़ेगा, परन्तु पदार्थ का अन्त आ नहीं सकता, इसलिये ज्ञान को ही सान्त मानना पड़ेगा।

इस प्रकार तर्क जहाँ निश्चितरूप से खण्डन कर सकता है, वहां खण्डन कर देता है; जहां निश्चित रूप से मंडन कर सकता है, वहां मंडन कर देता है। जहां उसकी गति नहीं, जहां कोई हेतु नहीं मिलता, वहां वह चुप रह जाता है। सभी को अप्रमाणित कहने की बीमारी का नाम तार्किकता नहीं है।

सभी ज्ञानों का मूल अनुभव है परन्तु अनुभव भूत भविष्य को नहीं जान सकता, और जीवन के कार्य तो आगे पीछे का विचार करके करना पड़ते हैं तब इस जगह तर्क ही हमारी सहायता करता है। अनुभवों का फैला हुआ प्रकाश ही तर्क है। वह सर्वव्यापक नहीं है, फिर भी उसका स्थान विशाल से भी विशाल है।

यद्यपि कल्पना का स्थान तर्कसे भी विशाल है, परन्तु उसमें प्रामाणिकता न होने से उसका कुछ मूल्य नहीं है। जब अनुभव और तर्क से मनुष्य विश्वके सारे रहस्य न जान पाया, किन्तु इसके बिना उसे संतोष नहीं हुआ, अथवा जब अनुभव और तर्क ने मनुष्य की आशाओं को उसकी इच्छा के अनुसार तृप्त न किया, तब उसने कल्पनासे काम लेना शुरू किया। तथ्यातथ्य का विचार न करके अपनी आशा को पूर्ण करनेवाली उसने विशाल कल्पनाकी सृष्टि कर डाली। तर्क से तो उसका समर्थन हो नहीं सकता था, क्योंकि तर्क का तो खुला खेल है, तथ्यहीन कल्पनाएँ उसके सामने कैसे टिक सकतीं थीं? इसलिये उन कल्पनाओं को अनुभव कहा गया। अनुभव भीतर की चीज होने से उसके नाम पर कुछ भी धकाया जा सकता था। इसलिये स्वर्ग-नरक, भूत-भविष्य, लोक-परलोक आदि सब अनुभव के भीतर कर दिये गये। कोई बैठा बैठा कहे कि 'मुझे अपने दिव्य--ज्ञान से मनुष्य की पहुँच के बाहर अमुक जगत् दिखाई दे रहा है, वह ऐसा है, और वैसा है' आदि तो बेचारा श्रोता क्या करे? यह बात तर्क के नाम पर तो धकाई नहीं जा सकती थी, क्योंकि वहाँ

तो तुरन्त ही कोई चिह्न बताना पड़ेगा। अनुभव की दुहाई देने में इन सब बातों की छुट्टी है। यही कारण है कि अज्ञेय विषयों में सभी मत वाले एक दूसरे से विरुद्ध कुछ न कुछ कहते हैं और अनुभव की दुहाई देते हैं।

परन्तु ये कल्पनायें उड़ते उड़ते कभी कभी ऐसी ऊटपटाँग जगह पर पहुँच जाती हैं, जहां तर्क की मार के भीतर आ जातीं हैं, तर्क इन का खण्डन कर सकता है। वहां इनकी पोल खुल जाती है। परंतु मनुष्य प्राचीनता की बीमारी के कारण इनकी रक्षा में दौड़ता है, और कहता है कि ख़बरदार! ये बातें अनुभवकी हैं, यहां तर्क की गति नहीं है! परंतु अगर तर्क की गति न होती तो तर्क के द्वारा खंडित क्यों होतीं? अगर तर्क उनका खण्डन कर सकता है तब वे तर्क के स्थान के बाहर नहीं कहीं जा सकतीं।

आश्चर्य तो यह है कि जो बात अनुभव के क्षेत्र के बाहर है उसे अनुभव का विषय कह दिया जाता है, और जो तर्क के क्षेत्र के भीतर है उसे तर्क के बाहर कह दिया जाता है। एक आदमी प्रसन्न है, और उसकी प्रसन्नता को हम तर्क से न जान सकें तो उसकी प्रसन्नताको अनुभव का विषय कहकर तर्क चुप रह जायगा, परंतु देशकालान्तरित वस्तुएँ जिनके अनुभव करने का कोई माध्यम ही नहीं मिलता और पारस्परिक विरोध आदि से कल्पना के सिवाय जिनका कोई कारण ही समझमे नहीं आता, उन्हे अनुभव के नाम पर कैसे माना जाता है? और तर्क से खंडित हो जाने पर भी उन्हें तर्क-क्षेत्र के बाहर कैसे कहा जा सकता है?

बहुत से लोग जब प्राचीन कल्पनाओं को तर्क से खंडित होते देखते हैं, तब चिल्ला उठते हैं कि—'तर्क का क्या? उससे तो सत्य भी असत्य सिद्ध किया जा सकता है, और असत्य भी सत्य सिद्ध किया जा सकता है।' परन्तु वास्तव में तर्क में यह लचक नहीं है, तर्क के नाम पर जो वितण्डावाद चलता है, उसकी यह लचक है। और इस प्रकार की लचक तो ज्ञानमात्र में है। अनुभव और प्रत्यक्ष तो बड़ा ज़बर्दस्त प्रमाण माना जाता है, परन्तु वह तर्क से भी अधिक लचकदार है। कभी हम अपनी आंखों से देख कर भी सर्प को रस्सी या रस्सी को सर्प समझ जाते हैं, मृगी बालू में पानी का ज्ञान कर बैठते हैं, हज़ारों मीलों के गोल चन्द्रमा को छोटी सी थाली सरीखा देखते हैं, सिनेमा के पर्देपर दावानल, तालाब, समुद्र, मकान, पर्वत आदि सब कुछ देख डालते हैं, जहां वह सब कुछ नहीं होता; परन्तु इन सब बातों से हम प्रत्यक्ष को अप्रामाणिक नहीं कह सकते, क्योंकि ये सब प्रत्यक्षाभास हैं। इसीप्रकार तर्काभास के कारण तर्क को अप्रामाणिक नहीं कह सकते। प्रत्यक्ष से जिस प्रकार असत्य सत्य और सत्य असत्य सिद्ध नहीं किया जाता उसी प्रकार तर्क से भी नहीं किया जाता।

तर्क के भीतर जो हमें भ्रम होता है उसके अनेक कारण हैं। जैसे कभी कभी हमारी पूरी मान्यता में सत्यके साथ असत्यका मिश्रण होता है तब असत्य का खण्डन होने से सत्यका खंडन मान लिया जाता है। जैसे—जैनियों ने पितृ-लोक का खण्डन कर दिया, और कह दिया कि हमने हिंदू-धर्म का खण्डन कर दिया। या किसीने जैनियो के जंबूद्वीप का, एक लाख योजन के ऐरावत हाथी का खण्डन कर दिया और कह दिया कि हमने जैन-धर्म का खण्डन कर दिया!

फिर लोग आश्चर्य में पड़ जाते हैं--अरे, जैन-धर्म तो सत्य है, या हिंदू धर्म तो सत्य है--क्या उसका भी खण्डन हो गया ? बस, तर्क को अप्रामाणिक कह दिया। अथवा सत्यांश की विजय होने पर असत्यांश की विजय घोषित की जाने लगती है। इससे भी असत्यांश की विजय के भ्रम से तर्क को गाली दी जाने लगती है। परन्तु यह सब हमारी नासमझी और अहंकार का परिणाम है, तर्क की अनिश्चितता का नहीं।

विशेष बुद्धिमान आदमी कभी कभी तर्काभासों का प्रयोग करके सत्य को असत्य और असत्य को सत्य सिद्ध कर देता है। परन्तु यह बात स्थानविशेष पर अमुक आदमियों के सामने ही हो सकती है, यह टिकाऊ नहीं होती। जिस प्रकार इन्द्रजाल के दृश्य टिकाऊ नहीं होते उसी प्रकार इसे समझना चाहिये। तर्काभासों का पता जब विद्वानों को लगता है और जब उन पर गंभीर विचार किया जाता है तब उनका रहस्योद्-घाटन हो ही जाता है।

कभी कभी जिस विषय में तर्क का पूर्ण प्रवेश नहीं होता वहां पर सम्भावना के आधार पर कुछ बात निश्चय की जाती है। अथवा कोई सामान्य बात निश्चित होती है और उसको विशेषरूप दे दिया जाता है। ऐसी अवस्थामें कालान्तर में जब उस विशेषरूप को निश्चित करने वाले प्रमाण मिलते हैं तब पहिला विशेषरूप खंडित हो जाता है। इसका कारण तर्ककी अनिश्चितता नहीं है किन्तु तर्क के साथ कल्पना का मिश्रण है। उदाहरणार्थ जब लोगों ने देखा कि प्रत्येक पदार्थ ऊपर से नीचे गिरता है, तब उस ज़माने के लोगोंने निर्णय किया कि पदार्थ में गुरुत्व नामका एक धर्म है, जिससे चीज़ नीचे गिरती है। इस निर्णय में तर्क के साथ कल्पना का मिश्रण था। पदार्थ ऊपर से नीचे गिरता है, इसके दो कारण कहे जा सकते थे--- एक तो यह कि या तो पदार्थ में ही कोई ऐसा धर्म है जिससे वह पृथ्वी की तरफ़ आता है, अथवा पृथ्वी में कोई ऐसा धर्म है जिससे वह पदार्थ को अपनी ओर खींच लेती है। वहां तर्क का काम इतना ही है कि दोनों में या दो में से किसी एक में किसी शक्ति या धर्म का सद्भाव सिद्ध करदे। परन्तु पुराने तार्किकों ने इस सामान्य निर्णय के साथ विशेष कल्पना को मिला कर गिरनेवाली वस्तु में ही गुरुत्व धर्म मान लिया जबकि इसके लिये उनके पास कोई तर्क न था। बाद में जब विशेष खोज हुई तब यही मालूम हुआ कि गुरुत्व नामका कोई धर्म नहीं है--- प्रत्येक पुद्गल ( Matter ) में आकर्षण-शक्ति है जिससे वे एक दूसरे को खींचते हैं। पृथ्वी पुद्गलों का विशाल पिंड होने से वह छोटे पिंडों को अपनी ओर खींच लेती है। इसीका नाम गिरना है। इस नये सिद्धान्त ने पुरानी बात का खण्डन कर दिया परंतु पुरानी बात में जितना तर्क का अंश था उसका खंडन नहीं किया। तर्क के साथ जो कल्पना के द्वारा विशेष निर्णय किया गया था उसीका खण्डन किया गया।

इसी प्रकार दिन-रातका भेद देखकर मनुष्य ने सूर्य के गमन की कल्पना की, परन्तु यहाँ भी तर्क ने कल्पना को मिलाया। तर्क ने तो सिर्फ़ इतना ही निर्णय किया कि दोनों में कुछ अन्तर पड़ता है। वह अन्तर सूर्य की गति से भी हो सकता है; पृथ्वी की गति से भी हो सकता है; दोनों की गति से भी हो सकता है। तर्क ने तो सिर्फ़ अन्तर को सिद्ध किया। यह अन्तर किस

की गति से पैदा होता है, इसके लिये विशेष हेतु की आवश्यकता थी जो कि उस समय मिला नहीं। इसलिये विद्वानों ने कल्पना लड़ाकर सूर्य को ही चल मान लिया। पीछे इस बात का खंडन हो गया, परन्तु इसे तर्क का खंडन न समझना चाहिये। तर्क ने जो अंतर सिद्ध किया था वह तो आज भी सिद्ध है। अन्तर के कारणों के विषय में जो तर्कहीन कल्पना की गई थी अब उसका खण्डन हुआ है।

वैज्ञानिक बातों में जो संशोधन होते रहते हैं और कभी कभी पुराने सिद्धान्त कट जाते हैं वहाँ भी उन बातों का खण्डन नहीं होता जो तर्कसिद्ध हैं; सिर्फ़ उन बातों का खण्डन होता है जिन्हें उन तार्किकों ने अपनी कल्पना से रच डाला था।

तर्क के वास्तविक रूपको न समझकर लोग तर्क का विरोध करने लग जाते हैं और अन्ध-श्रद्धागम्य कल्पनाओं को अनुभव आदि सुन्दर नाम देकर तर्क को कामज़ोर अनिश्चित आदि कह देते है। परन्तु सच बात तो यह है कि अनुभव और तर्कका न कभी विरोध हुआ है, न होगा। दोनों एक दूसरे के सहायक है!

जो कुछ गड़बड़ी है वह कल्पनाओं की है। कभी कभी हम कल्पनाओं को अनुभव कह बैठते हैं और कभी कभी तर्क कह बैठते है। तब इन दोनो मे विरोध नज़र आने लगता है, और एक दूसरे को काटने लगते है। परन्तु कल्पनाओं का मिश्रण न किया जाय तो दोनो हमारे ज्ञान को बढानेवाले और सच्चे सिद्ध होंगे।

इस विश्वकी समस्याओं को सुलझाने के मार्ग मे बढ़ानेवाला तर्क ही है। अनुभव तो रास्ते मे गड़े हुए मीलके पत्थरो की तरह हमें सूचना ही देता है, बाकी सब काम तर्कका ही है। इसलिये तर्कका स्थान विशाल है। वह हजारों अनुभवोंका निचोड़ होने से अधिक उपयोगी है। अन्धश्रद्धा के कारण या प्राचीनता के कारण अपनी पुरानी मान्यताओं को सुरक्षित रखने के लिये तर्कका विरोध न करना चाहिये। वस्तु-तत्त्व के निर्णय में तर्कका स्थान सबसे अधिक विशाल है। मनुष्यता का विशेष चिह्न भी यही है।

प्रमाण की उपेक्षा करने से या जहां जिस प्रमाण का जो स्थान है वहां उसका स्थान न जानने से परीक्षा करने की कोशिश करने पर भी परीक्षा नहीं हो पाती। इसलिये प्रमाणों के बलाबलका ध्यान अवश्य रखना चाहिये। इस प्रकार बुद्धिमत्ता, अदीनता और प्रमाणज्ञान इन तीन बातों से मनुष्य परीक्षक बन सकता है।

### ३ समन्वय-शीलता

भगवान सत्य के दर्शन के लिये तीसरी आवश्यकता समन्वयशीलता की है। समन्वयशीलता को निष्पक्षता का परिशिष्ट ही कहना चाहिये। परन्तु यह इतनी आवश्यक है कि इसको अलगरूपमें समझ लेना उचित है।

कालमोह और स्वत्वमोह को छोड़कर निष्पक्ष बन जाने पर तथा अदीन, बुद्धिमान और प्रमाणज्ञानी होकर निष्पक्ष बनजाने पर हमें तथ्यातथ्य का ज्ञान अच्छी तरह हो सकता है परन्तु जब तक उसका समन्वय न किया जाय तब तक भगवान सत्य के दर्शन नहीं हो सकते। **तथ्य को सत्य बनाने के लिये समन्वय आवश्यक है।** समन्वय के द्वारा तथ्य को हितकारी बनाया जाता है। घटना या सिद्धान्त ठीक हो परन्तु उसका उचित उपयोग क्या है, उसकी विविधता में एकता क्या है, उसका ठीक स्थान क्या है, किस समय उसका

कैसे उपयोग करना चाहिये आदि बातों की समझ न हो तो हमारा ज्ञान सत्य-दर्शन की दृष्टि से निष्फल हो जाता है।

यहां **समन्वय का कार्य किसी की बात को जन-कल्याण के लिये उपयोगी बना देना है**। इसके लिये नानातरह के विरोधों का यथायोग्य परिहार करना आवश्यक है। समन्वय दो तरह का होता है। **(१) आलङ्कारिक (२) पारिस्थितिक**

**आलङ्कारिक समन्वय**-इसमें घटना के मूल-वर्णन पर उपेक्षा की जाती है और रूपक, श्लेष आदि अलङ्कारों के द्वारा शब्दों का अर्थ बदल कर प्राणी को बुराई से भलाई की तरफ़ ले जाया जाता है। जैसे किसी ने कहा-'हम गोवध ज़रूर करेंगे, हमारे शास्त्रों में लिखा है और पहिले भी होता था'। इसके उत्तर में आलङ्कारिक समन्वय-वादी कहेगा, गोवध अवश्य होना चाहिये परन्तु गो का अर्थ गाय नहीं है किन्तु गो का अर्थ इन्द्रियाँ हैं सो उनका वध अर्थात् दमन अवश्य करना चाहिये' यह गोवध का आलंकारिक समन्वय कहलाया।

आलङ्कारिक समन्वय भी दो तरह का होता है। एक **उपपन्न** दूसरा **अनुपपन्न**। उपपन्न सयुक्तिक रहता है और अनुपपन्न युक्तिशून्य।

शब्दों का अर्थ बदलते समय अगर अर्थ-परिवर्तन की अनिवार्यता सिद्ध हो तो उसे **उपपन्न** कहेंगे। जैसे-विश्वामित्र ने क्रोध में आकर दूसरी सृष्टि की। कोई प्राणी दूसरी सृष्टि बना सकता है, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, तारे आदि की रचना कर सकता है यह असंभव और अविश्वसनीय है इसलिये सृष्टि बनाने को आलङ्कारिक मानकर इसका वास्तविक अर्थ नया समाज बनालेना या नये उपनिवेश बसा लेना, किया जाय तो यह अर्थ सोपपत्तिक होगा। इसलिये यह उपपन्न-आलङ्कारिक समन्वय कहलाया।

परन्तु गोवध अर्थात् इन्द्रियदमन, ऐसा अर्थ करके समन्वय करना **अनुपपन्न आलङ्कारिक** समन्वय है। क्योंकि गोवध का पशुवध अर्थ प्राकृतिक या ऐतिहासिक दृष्टि से असंगत नहीं है। इसलिये यहां आलङ्कारिक अर्थ की अनिवार्यता का कोई कारण नहीं है। इसलिये यह अनुपपन्न समन्वय कहलाया।

अनुपपन्न समन्वय तथ्यहीन होता है इसलिये बुद्धिको सन्तुष्ट नहीं कर पाता, इसी से वह विश्वसनीय नहीं होता और जो विश्वसनीय नहीं है वह स्थायी वस्तु नहीं बन सकता। इससे भोले प्राणियों के मनपर प्रभाव पड़ता है। थोड़ा बहुत पांडित्य का चमत्कार भी दिखाई देता है, पर स्थायीरूपमें इससे लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है। थोड़े से भोले प्राणियों के सामने थोड़ी देर को लाभ होता है पर पीछे हँसी होती है और अपनी बात का विश्वास भी उठ जाता है।

बहुत से लोग इस अनुपपन्न आलंकारिक समन्वयका उपयोग धर्ममद, जातिमद आदि के पोषण के लिये करते है। जैसे-अमुक लोग अग्नि में होम करते थे, इसका अर्थ करना-अग्नि अर्थात् ध्यानाग्नि, ध्यानाग्नि तो हमारे ही धर्म की वस्तु है इसलिये वे लोग हमारे ही सम्प्रदाय को मानते थे, इसलिये हमारा सम्प्रदाय व्यापक, महान और प्राचीनतम है। इस प्रकार का समन्वय मिथ्यात्व और असंयम है। इस दृष्टि से कोई भी समन्वय न करना चाहिये फिर यहां अनुपपन्न-समन्वय तो बिलकुल निंद्य है।

**पारिस्थितिक समन्वय**–पारिस्थितिक समन्वय में तथ्य की उपेक्षा नहीं की जाती। बात को ज्यों की त्यों रखकर उसकी परिस्थिति का विचार करके समन्वय किया जाता है। जैसे-मुहम्मद साहिब ने गोवध आदि हिंसा के कुछ विधान किये तो इस वर्णन के अर्थ को बदलने की कोई ज़रूरत नहीं है, न मुहम्मद साहिब के विधान की निंदा करना चाहिये और न उसे अपनाना चाहिये। पारिस्थितिक समन्वय से ये सब बातें ठीक बैठ जातीं है।

उस समय की परिस्थिति का ज़ब हम विचार करते है तब यह साफ़ समझ में आ जाता है कि मुहम्मद साहिब के हिंसा के विधान उससे भी बड़ी और कई गुणी हिंसा को रोकने के लिये थे। इसलिये वे अहिंसा के सहायक या अंश थे। परिस्थिति बदल जाने से अब उनकी ज़रूरत नहीं है इसलिये आज उन्हे अलग कर देना चाहिये। पर अरब की प्राचीन परिस्थिति को देखते हुए उस समय वहां वे विधान आवश्यक थे इस प्रकार पारिस्थितिक समन्वय में न अर्थ की खींचातानी है न असत्योपदेश है; यह विश्वसनीय तथ्य--पूर्ण और जनकल्याणकारी है।

इस प्रकार के और भी उदाहरण दिये जा सकते है पर वे इसी ग्रंथ में आगे दिये जाँयगे।

इस प्रकार समन्वय के विषय में निम्न-लिखित बातें ध्यान में रखना चाहिये।

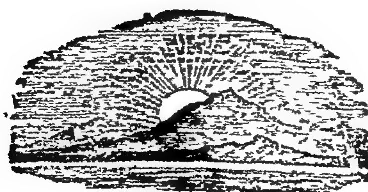
१–जातिमद, धर्ममद आदि के वशमें होकर समन्वय न करे। ख़ासकर ऐसी मनोवृत्ति से अनुपपन्न आलंकारिक समन्वय तो अत्यन्त निंदनीय है।

२–अनुपपन्न आलंकारिक समन्वय अविश्वसनीय है इसलिये धर्ममद आदि न होने पर भी जहां तक बने नहीं करना चाहिये।

३–अनुपपन्न आलंकारिक समन्वय में रूपक आदि (जैसे-अग्निका अर्थ ध्यान करना आदि) और भी हेय है, श्लेप कुछ ठीक है (जैसे गोवध में गो का अर्थ गाय न करके इन्द्रिय करना) फिर भी अनुपपन्न आलंकारिक समन्वय रूपक हो या श्लेप–हेय ही है। हाँ, कवित्व के लिये उसका उपयोग किया जा सकता है पर सत्य-दर्शन के प्रयत्न मे यह ठीक नहीं है।

४–उपपन्न आलंकारिक समन्वय और पारिस्थिनिक समन्वय, ये दोनों ही तथ्यपूर्ण और विश्वसनीय है इसलिये इनका उपयोग उत्तम है।

इस प्रकार निष्पक्षता, परीक्षकता और समन्वयशीलता के प्राप्त होने से मनुष्य को भगवान सत्य के दर्शन करने की योग्यता प्राप्त होती है। और भगवान सत्य के दर्शन हो जाने पर सुख की [illegible]।



# दृष्टिकांड, दूसरा अध्याय (ध्येय-दृष्टि)

## (अंतिम ध्येय)

जिस व्यक्ति ने निष्पक्ष, परीक्षक और समन्वयशील बनकर सत्यदृष्टि प्राप्त करली है उसका सब से पहिला काम जीवन के ध्येय को देखना है जिससे वह जीवन-यात्रा का मार्ग निर्माण कर सके। अगर अनेक मनुष्यों से पूछा जाय तो इस प्रश्न के उत्तर नाना रूप में मिलेंगे। जैसे स्वतंत्रता, मोक्ष, ईश्वर-प्राप्ति, दुःखनाश, यश, सुख आदि। इनमें से किसी को भी ध्येय बना लिया जाय और उसके अर्थ का दुरुपयोग न किया जाय तो हमारा जीवन सफल हो सकता है। फिर भी तत्त्व-विवेचन की दृष्टि से अंतिम ध्येय वही कहा जा सकता है जिसके आगे हमें प्रयोजन का विचार न करना पड़े। किसीने पूछा नौकरी क्यों करते हो? उत्तर मिला-पैसे के लिये, पैसा क्यों? रोटी के लिये। रोटी क्यों? जीवन के लिये। जीवन क्यों? सुख के लिये। इसके बाद प्रश्न समाप्त हो जाता है। सुख किसलिये? ऐसा प्रश्न खड़ा नहीं होता इसलिये यही अंतिम ध्येय कहलाया।

स्वतन्त्रता, मोक्ष, ईश्वर-प्राप्ति, यश आदि ध्येयों के बाद भी प्रश्न खड़ा होता है कि ये किसलिये? बल्कि कभी कभी सुख के लिये या सुख की आशा मे इनका बलिदान भी किया जाता है इसलिये इन्हें अंतिम ध्येय नहीं कहा जा सकता। हां, इन्हें अंतिम या समर्थ--साधन कहा जा सकता है। फिर भी सुख का स्थान इनसे महान और व्यापक है।

**प्रश्न**--जैसे हम कभी कभी सुख की आशा में स्वतन्त्रता छोड़ देते हैं उसी प्रकार कभी कभी स्वतंत्रता की आशा में सुख भी छोड़ देते हैं। अनेक देश-सेवक देशकी स्वतन्त्रता के लिये फाँसी पर लटक जाते है, सारा वैभव त्याग देते हैं इससे माल्रूम होता है कि स्वतन्त्रता का स्थान सुख से भी महान है। इसी प्रकार बहुत से लोग ईश्वर-प्राप्ति के लिये सुख का त्याग कर देते हैं इससे माल्रूम होता है कि सुख ही अन्तिम साध्य नहीं है।

**उत्तर**--देश की स्वतन्त्रता की वेदी पर जो सुख का बलिदान है वह वास्तव में अधिक सुख के लिये न्यून सुख का बलिदान है। करोड़ों मनुष्यों के सुख के लिये एक मनुष्य के सुख का बलिदान है। ईश्वर--प्राप्ति या मुक्ति में भी देह त्याग के बाद के अपरिमित सुख की आशा से अभी के थोड़े सुख का बलिदान है। इस प्रकार के बलिदानों के मूल में काल या मात्रा की दृष्टि से अधिक सुख के लिये न्यून सुख का बलिदान किया जाता है। समाज के लिये व्यक्ति जब अपने सुख का बलिदान करता है तब भी बहुजन के सुख के लिये अर्थात् अधिक सुख के लिये एक जन के सुख का बलिदान किया जाता है। इसलिये यह बात बिलकुल ठीक है कि जीवन का ध्येय सुख है। मोक्ष, स्वर्ग, स्वतन्त्रता, ईश्वर-

प्राप्ति आदि सुख के साधन हैं और इन साधनों के भी साधन धन पैसा आदि हैं जिन्हे मनुष्य अपना ध्येय मान बैठता है और जिस ध्येय की प्राप्ति के लिये इन साधनों को ध्येय बनाया है उन्हे भूल बैठता है।

कुछ विद्वान लोग सुख के बदले दुःखाभाव को जीवन का परम ध्येय मानते है। वह दुःखाभाव बड़ी मुश्किल से किसी किसी को मरने के बाद परममुक्त होने पर शायद मिलता होगा। पहिले तो परममुक्ति की समस्या हल करना ही कठिन है क्योंकि संसार के प्राणी करोड़ों वर्ष में एकएक के क्रम से भी परम मुक्त होते तो इस व्यतीत अनंत काल में आज तक एक भी प्राणी न बचा होता। अगर किसी तरह इस परममुक्ति को मान भी लिया जाय तो भी जीवन का ध्येय दुःखाभाव बताना आकर्षक नहीं है।

दुःखाभाव को अन्तिम ध्येय बताने का कारण यह कहा जाता है कि दुःख और सुख एक तरह से सापेक्ष है। विना दुःख के सुख नहीं मालूम होता। ठंड के कष्ट के विना रजाई का आनन्द नही मिलता। साथ ही एक बात यह भी है कि कितना भी सुख हो उसके साथ या आगे पीछे एक न एक दुःख लगा ही रहता है इसलिये अगर दुःख से पिंड छुड़ाना है तो सुख का त्याग करना अनिवार्य है। इसलिये जीवन का ध्येय ऐसी अवस्था होना चाहिये जिस मे न तो दुःख हो न सुख हो।

दुःख से घबराया हुआ मनुष्य ऐसी कल्पना करे इस मे कोई आश्चर्य नहीं है फिर भी गंभीर विचार करने पर दुःखाभाव जीवनका ध्येय नहीं मालूम होता।

सुख और दुःख एक प्रकार के संवेदन या अनुभव है। **अनुकूल संवेदन को सुख कहते** हैं और **प्रतिकूल संवेदन को दुःख कहते हैं।** सुख दुःख का अभाव हो जाना, इसका अर्थ हुआ संवेदन का अभाव होजाना। यह एक तरह की जड़ता है। पत्थर में भी सुख दुःख संवेदन नहीं है पर इसीलिये उसे परममुक्त नहीं कह सकते न ऐसी अवस्था किसी के जीवन का ध्येय बन सकती है।

मनुष्य के मन की परीक्षा करने से भी पता लगता है कि उसके सारे प्रयत्न सुख के लिये होते हैं दुःख के अभाव के लिये नहीं। दुःख रहे या न रहे पर मनुष्य सुख अवश्य चाहता है। इसलिये वह दुःख में भी मरना नहीं चाहता कोई कितने ही आराम से उसे मारना चाहे वह मरना न चाहेगा। उत्तेजना-वश आत्मघात करले यह दूसरी बात है, अथवा विचारपूर्वक जीवन की अपेक्षा मरने के बाद अधिक सुख का अनुभव करले इसलिये समाधि आदि से मर जाय तो बात दूसरी हैं इस में सिर्फ़ दुःख से छूटने की ही आकांक्षा नहीं होती परन्तु इस दुःख से रहित किसी निराकुल स्थान में पहुंचने की आकांक्षा होती है। उत्तेजनावश अज्ञान से कोई कहे कुछ भी पर बहुत से चक्कर काटकर भी अन्त में उस की आकांक्षा का अन्त सुख मे होना है। अगर दुःख के विना सुख नहीं मिलता तो यही कहना चाहिये कि **दुःख से अधिक सुख प्राप्त करना जीवन का ध्येय** है, जितने अंश मे सुख अधिक है उतने अंश मे सुख पाने के लिये प्राणी का प्रयत्न है।

**प्रश्न**--यह ठीक है कि दुःख से अधिक सुख पाने के लिये हरएक प्राणी प्रयत्न करता है पर इसीलिये सुख को अगर ध्येय मान लिया जाय तो पाप और अत्याचार जीवन के ध्येय बन जाँयगे। सुख के लिये चोरी व्यभिचार झूठ हिंसा

आदि सभी कार्य ध्येय के भीतर कहलाँयगे। एक व्यक्ति को इससे सुख होगा पर दूसरे हजारों को दुःख होगा। इस प्रकार सुख बढ़ाने के लिये किया गया हमारा सारा प्रयत्न व्यर्थ जायगा।

**उत्तर**—व्यक्ति के पाप से समाज की तो हानि है ही पर व्यक्ति की हानि भी कम नहीं है। पाप करना स्वयं एक दुःखप्रद कार्य है। क्रोध के समय मनुष्य का स्वसंवेदन सुखात्मक नहीं दुःखात्मक है। चोरी करते समय जो भय होता है वह भी दुःख की अवस्था है। अज्ञान आदि के कारण अन्य दुःखों की तरह ये दुःख मनुष्य को सहना पड़ते हैं। वास्तव में पाप कोई आनन्द की चीज़ नहीं है।

पर यहां जो प्रश्न उपस्थित हुआ है उस का उत्तर इस सूक्ष्म--विवेचन से नहीं होता। बहुत पाप ऐसे है और बहुत से पापी ऐसे हैं जहां पाप दुःखरूप नहीं मालूम होता। इसलिये जीवन के ध्येय का निर्णय करते समय हमें सामूहिक दृष्टि से विचार करना होगा साथ ही सुख और दुःख की मात्राओं का हिसाब भी रखना होगा।

**जीवन का ध्येय दुःख से अधिक सुख पाना है**। इसका अर्थ अपना और आज ही दुःख से अधिक सुख पाना नहीं है। आज का सुख अगर कल अधिक दुःख देने वाला हो, हमारा सुख अगर दूसरे अनेकों को अधिक दुःख देने वाला हो तो इससे सुखवृद्धि न हुई। **सामूहिक दृष्टि से सुखवर्द्धन जीवन का ध्येय है।** अथवा दूसरे शब्दों में इसे यों कहना चाहिये—— **सार्वत्रिक और सार्वकालिक दृष्टि से यथासम्भव अधिक से अधिक प्राणियों का अधिक से अधिक सुख जीवन का ध्येय है**। अति-संक्षेप में **समाज का सुख जीवन का ध्येय है।**

**प्रश्न**—अपना सुख ही जीवन का ध्येय क्यों न हो समाज का सुख जीवन का ध्येय क्यों हो? समाज से क्या लेना देना?

**उत्तर**—यदि तुम अपने सुखको ही जीवन का ध्येय समझोगे तब दूसरे भी अपने सुखको जीवनका ध्येय समझेंगे तब जैसे तुम उनकी पर्वाह न करोगे वे तुम्हारी पर्वाह न करेंगे। इस पारस्परिक असहयोग और लापर्वाही का फल यह होगा कि संसार में जितना सुख है उसका शतांश मात्र रह जायगा और दुःख सौगुणा बढ़ जायगा। इतना ही नहीं संसार का अन्त ही हो जायगा। क्योंकि संसार सहयोग पर टिका हुआ है। इस प्रलय से बचने के लिये और संसार को अधिक से अधिक सुखी बनाने के लिये पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता है। जब संसार में अधिक से अधिक सुख होगा तब व्यक्ति को भी अधिक से अधिक मिलेगा। यह हमें कदापि न भूलना चाहिये कि दूसरों का सुख अपने सुख के बढ़ाने में मुख्य सहायक है इसलिये कहना चाहिये कि **सर्व-सुख या पर-सुख में निजसुख है**। व्यक्ति का तो कर्तव्य है कि वह अपने पराये के भेद को गौण कर के संसार में सुख बढ़ाने की कोशिश करे। दूसरे का उपकार करने में जितना दुःख हमें सहना पड़ता है उससे कई गुणा सुख दूसरे को मिलता है, इस प्रकार सुख दुःख का अगर हिसाब मिलाया जाय तो उसमें सुख की मात्रा अधिक निकलेगी।

एक आदमी खड्ढे मे गिर पड़ा हो और उसके निकालने का हम प्रयत्न करे तो हमे कुछ कष्ट तो होगा पर जितना हमें कष्ट होगा उससे कई गुणा आनन्द उस आदमी को मिलेगा। इस प्रकार सामूहिक दृष्टि से संसार में सुख की वृद्धि होगी।

इसलिये क्रोध प्रगट नहीं करना चाहिये तो चार आद-मियों के उठते ही क्रोध प्रगट करने का अवसर पाकर प्रगट करेंगे। पाँचवीं श्रेणी का क्रोध-शम अत्यन्त निंद्य है। यह विश्वास-घातक होने से कई गुणा दुःख देने वाला है।

अब इस पांच प्रकार के क्रोध-शम की सुखवर्धकता के साथ मन-शुद्धि को मिलाइये। पहिली श्रेणी मे मन-शुद्धि अधिक है और सुखवर्धकता भी अधिक है अन्तिम श्रेणी में मन-शुद्धि बिलकुल नहीं है बल्कि अशुद्धि बहुत है और सुखवर्धकता भी बिलकुल नहीं है बल्कि दुखवर्धकता बहुत है। इससे मालूम होता है कि जितने अंश मे सुखवर्धकता है उतने अंश मे मनशुद्धि है। सुखवर्धकता का मनशुद्धि से कोई विरोध नहीं है बल्कि निकट सम्बन्ध है।

**प्रश्न**—जब दोनो मे ऐसा सम्बन्ध है तब सुखवर्धन ही ध्येय क्यों कहा ? आत्मशुद्धि क्यो नही ? दोनो से बात तो वही निकलती है ?

**उत्तर**--आत्मशुद्धि को ध्येय बनाने मे दो आपत्तियॉ है---१ **अर्थ की अनिश्चितता २ जिज्ञासा की अशान्ति**।

१- आत्मशुद्धि शब्द का अर्थ करना ही कठिन है। आत्मा नित्य है या अनित्य, मूर्त है या अमूर्त इत्यादि विवाद खड़े हो जाते हैं। इन विवादों के साथ धर्म का सम्बन्ध जुड़ जाने से धर्म भी दर्शन की तरह विवादास्पद हो जाता है। आत्मा के साथ भौतिक कर्म लगा है या उसी का गुण अदृष्ट है या माया है इन मे से किसे मानकर आत्मशुद्धि की जाय यह समस्या भी खड़ी हो जाती है। स्वर्ग, मोक्ष के प्रश्न भी आड़े आ जाते है।

अगर इन झगड़ों से पिंड छुड़ाकर सिर्फ मानसिक विकारों को हटाने का नाम आत्मशुद्धि कहकर ध्येय-निर्णय किया जाय तो मानसिक विकार का निर्णय करना भी सरल नहीं है। क्योकि मन की तामस अवस्था में जब एक प्रकार की जड़ता आ जाती है, भले ही वह शान्ति या वैराग्य के नाम के आवरण से ढँकी हो, जैसे कि वृक्षों मे पाई जाती है तब वह भी आत्मशुद्धि कहलायगी। साधारणतः यह समझ लिया जाता है कि मन वचन और शरीर की स्थिरता आत्मशुद्धि है और क्रियावत्ता अशुद्धि। यह ऐसा ही निर्णय है जैसा कि जलकी क्रियाशीलता का नाम है जलकी अशुद्धि और जलकी स्थिरता का नाम है जलकी शुद्धि। पर जैसे यह उल्टा नियम है उसी प्रकार मन वचन काय की स्थिरता अस्थिरता के साथ शुद्धि-अशुद्धि को जोड़ना उल्टा नियम है।

आकाश में ऊपर मेघ के रूप मे नाचने वाला जल शुद्धतम है और गटर में बहनेवाला जल है अशुद्धतम। और साफ बोतल में भरा हुआ वर्षा का जल शुद्ध जल है और किसी गड्ढे म रुका हुआ जल अशुद्ध जल है। चलाचल होने से शुद्धाशुद्धता का कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार मन वचन काय की चलाचलता का भी शुद्धाशुद्धता से कोई सम्बन्ध नहीं है। स्थिर मन शुद्ध भी हो सकता है और अशुद्ध भी, क्रिया-वान मन शुद्ध भी हो सकता है और अशुद्ध भी। मछली पर ध्यान लगाकर बैठने वाला बगुला अशुद्ध है और कल्याण के लिये विश्वभर पर नजर लगाने वाला साधु शुद्ध है। ऐसी हालत मे आत्मशुद्धि-अशुद्धि की परीक्षा कैसे हो ? क्रिया और अक्रिया से तो इसका ताल्लुक रहा नहीं, तब इसके सिवाय और क्या कसौटी हो सकती है कि विश्वहित—जगत्कल्याण--सर्वसुख मे लगा मन शुद्ध है और इससे उल्टा अशुद्ध। इस

प्रकार आत्मशुद्धि का निर्णय भी सुखवर्धन की कसौटी पर कसकर ही करना पड़ता है।

२-दूसरी बात यह है कि आत्मशुद्धि से जिज्ञासा शान्त नहीं होती। आत्मशुद्धि किसलिये? यह जिज्ञासा बनी ही रहती है। कहा जा चुका है कि हर एक बात के लिये यह पूछा जा सकता है कि यह किसलिये? स्वतन्त्रता किस लिये? भक्ति किसलिये? स्वर्ग या मोक्ष किसलिये? पर यह नहीं पूछा जा सकता कि सुख किसलिये? इसलिये सुखको अंतिम ध्येय बताया। सुख का प्रयोजन आत्मशुद्धि नहीं है किन्तु आत्मशुद्धि का प्रयोजन सुख है।

**प्रश्न**--सुखवर्धन ध्येय है तो ठीक, पर जैसे आत्मशुद्धि ठीक होने पर भी उसमें दो आपत्तियाँ हैं उसी प्रकार सुख-वर्धन ठीक होने पर भी उसमें दो आपत्तियाँ हैं। पहिली आपत्ति तो यह है कि इस ध्येय का दुरुपयोग बहुत हो सकता है। सुख-वर्धन के नाम पर सभी स्वार्थियों और पापियों को अपना स्वार्थ या पाप छिपाने की ओट मिल जाती है। किसी पाप को सुखवर्धक सिद्ध करना जितना सरल है उतना सरल उसे आत्मशुद्धि-रूप सिद्ध करना नहीं है। दूसरी बात यह है कि सुखवर्धन के ध्येय में जो हम प्रयत्न करते हैं उसमें दुःख-वर्धन ही अधिक हो जाता है। किसी आदमी को भूख से पीड़ित देख कर मांस खिलाने की दया में विश्व-सुख-वर्धन की अपेक्षा विश्व-दुःख-वर्धन ही अधिक है इसी प्रकार हमारे अन्य परोपकारों की बात भी समझिये। हम परोपकार के नाम पर असंख्य क्षुद्रजीवों का जीवन नष्ट कर देते हैं इस प्रकार एक जीवन के सुखवर्धन के लिये असंख्य जीवों का दुःखवर्धन करते हैं। इसलिये दयालु और परोपकारी बनने की अपेक्षा मनुष्य अहिंसक बने यही अच्छा है। सुख-वर्धन की अपेक्षा दुःख न देने का प्रयत्न अधिक अच्छा है। इसे ही आत्मशुद्धि कह सकते हैं।

**उत्तर**--दुरुपयोग सभी का हो सकता है, होता है। सुख-वर्धन की ओट में अगर शैतानियत छिपती है तो आत्मशुद्धि की ओट में हैवानियत छिपती है। सुख-वर्धन की ओट में मनुष्य स्वार्थी बन जायगा, स्वार्थ सिद्धि में भी विश्वहित की दुहाई देगा तो आत्मशुद्धि की ओट में अकर्मण्य बनकर समाज पर बोझ बनेगा और इस पर भी अहंकार की पूजा करेगा, दंभ फैलायगा, ठंडी क्रूरता का परिचय भी देगा। अन्याय और अत्याचार को शक्ति होते हुए भी न रोकना एक तरह की ठंडी क्रूरता है। आत्मशुद्धि के नाम पर जो वीतरागता का नाटक किया जाता है उसमें ये सभी दोष आ सकते हैं।

कहा जा सकता है कि जहाँ आत्मशुद्धि है वहाँ अहंकार आदि कैसे रह सकते हैं? निःसन्देह नहीं रह सकते, ठीक उसी तरह जिस तरह जहाँ विश्व-सुख-वर्धन है वहाँ दुःस्वार्थ नहीं रह सकता। यह तो ओट की बात है सो तो आत्मशुद्धि के नाम की ओट में भी सब कुछ हो सकता है और विश्व-सुख-वर्धन की ओट में सब कुछ हो सकता है। और ठीक अर्थ करने पर दोनों की ओट में कुछ पाप नहीं हो सकता इस तरह इस विषय में ये दोनों पक्ष बराबर हैं। तब अर्थ की अनिश्चितता और जिज्ञासा की अशान्ति नामक आपत्तियाँ न होने से विश्व-सुख-वर्धन-ध्येय ही उत्तम है।

अब रही दूसरी बात कि सुख-वर्धन के कार्य में दुःख-वर्धन अधिक हो जाता है, सो इसका तो यही उपाय है कि जहाँ दुःख-वर्धन अधिक होता हो वहाँ सुख--वर्धन छोड़ देना

चाहिये। दोनो का टोटल मिलाने से अगर सुख-वर्धन अधिक मालूम हो तो वह करना चाहिये। इतना विवेक न हो तो ध्येयदर्शन या उसकी ओर गति कैसे हो सकती है? हां सुख-दुःख का मापतौल करते समय सिर्फ़ प्राणियों की गणना का विचार न करना चाहिये किन्तु सुख दुःख की मात्रा का विचार करना चाहिये। निम्न श्रेणी के असंख्य प्राणियो के सुख दुःख की अपेक्षा उच्च श्रेणी के एक प्राणी में सुख दुःख अधिक होता है। वनस्पतियों के सुख दुःख की अपेक्षा कीट पतंगो का सुख दुःख असंख्यगुणा है उनसे असंख्य गुणा पशुपक्षियो मे है और उनमे अनेक गुणा मनुष्य मे है। ज्ञान-चैतन्य-या संवेदन शक्ति का जितना जितना विकास होता जाता है उतना उतना सुख दुख बढता जाता है। इसलिये साधारणतः अनेक पशुओं की अपेक्षा एक मनुष्य का बचाना प्रथम कर्तव्य है। फिर भी उसकी मर्यादा है। मनुष्य पर प्राण-संकट आया हो तो उसको बचाने के लिये पशु का जीवन लगाया जा सकता है पर मनुष्य को सिर्फ़ आराम पहुँचाने के लिये पशु के प्राण नहीं लिये जा सकते क्योंकि पशु के मरने के कष्ट की अपेक्षा मनुष्य की भोगोपभोग सम्बन्धी सुख अधिक नहीं है। पर चलने फिरने मे खाने पीने मे मनुष्य द्वारा जो असंख्य वनस्पति का नाश होता है वह किया जा सकता है। फिर भी कोशिश यह होना चाहिये कि प्राणियो को कम से कम दुःख दिया जाय। अनावश्यक वध कदापि न होना चाहिये। इसका विशेष विवेचन अहिंसा के प्रकरण मे किया जायगा। यहां तो सिर्फ़ ये तीन बात समझ लेना चाहिये।

१--विश्व-सुखवर्धन ध्येय है।

२--सुखवर्धन का निर्णय प्राणियों की संख्या पर नहीं चैतन्य की मात्रा पर करना चाहिये।

३--सुखवर्धन के लिये अगर किसी को दुःख देना प्राकृतिक नियम से अनिवार्य हो तो वह कम से कम दिया जाय ऐसा प्रयत्न होना चाहिये।

**प्रश्न**--कोई जीव छोटा हो या बड़ा उसका सुख उसको उतना ही प्यारा है जितना अपना सुख हमे प्यारा है। जीने का जन्म-सिद्ध अधिकार भी जितना हमे है उतना उसे है फिर हम असंख्य प्राणियो का वध करके स्वयं जिन्दे रहे या सुखी बने यह कहां तक उचित कहा जा सकता है?

**उत्तर**--प्रत्येक प्राणी को आत्मरक्षा का अधिकार है और आत्मरक्षा के लिये प्राकृतिक दृष्टि से जो कार्य अनिवार्य है वे भी उसके कर्तव्य के भीतर हैं। जैसे एक प्राणी श्वास लेने मे भी असंख्य प्राणियो का वध कर जाता है तोभी श्वास लेना आत्मरक्षा के लिये अनिवार्य होने से श्वास लेने का जीव--वध क्षन्तव्य है। यह प्राणी का अपराध नहीं प्रकृति का अपराध है। प्रकृति के अपराध की जिम्मेदारी प्राणी के ऊपर नहीं है। **आत्मरक्षा के संघर्ष में जो अनिवार्य प्राणिवध या दुःखवर्धन हो जाता है वह धर्म के वश की बात नहीं है।** इस सुख-दुःख पूर्ण जगत मे धर्म तो इतना ही कर सकता है कि यथासाध्य दुःख को कम करे और सुख को बढावे। यही धर्म जीवन का ध्येय है।

**प्रश्न**--यदि श्वासोच्छ्वास का जीववध प्रकृति का अपराध है तो सिंह के लिये मांस--भक्षण भी प्रकृति का अपराध है इसलिये सिंह को हम दोषी नहीं कह सकते तब अनेक पशुओं और मनुष्यो

की रक्षा करने के लिये सिंह का वध करना अनुचित है। पर सिंह आदि हिंस्र प्राणियों के रक्षण से जितना सुखवर्धन होता है उससे कई गुणा दुःखवर्धन होता है। ऐसी हालत में धर्म क्या करे ? वह सुखवर्धन के लिये हिंस्र प्राणी का वध करे अथवा हिंस्र की हिंस्रता को प्रकृति का अपराध मानकर उसका रक्षण करे ?

**उत्तर**--प्राणरक्षा के प्रयत्न में सार्वत्रिक और सार्वकालिक दृष्टि से विश्वसुखवर्धन का ही ध्यान रखना चाहिये। अगर आत्मरक्षा के लिये इस प्रकार के विश्वसुखवर्धन में बाधा पड़ती हो तो प्राणत्याग कर देना चाहिये। जैसे अगर किसी मनुष्य को प्राण रक्षण के लिये दूसरे मनुष्यों का भक्षण करना पड़े तो उसका धर्म है कि वह मनुष्य-भक्षण करने की अपेक्षा प्राण-त्याग करदे। **प्राण-रक्षण के लिये अपने समान कोटि के या उच्च कोटि के प्राणियों का नाश उचित नहीं है।** सिंह की बात पर भी हम इसी दृष्टि से विचार करें। सिंह प्राण-रक्षण के लिये समान कोटि के अनेक प्राणियों को खाता है इसलिये उसको उचित है कि वह अनशन करके प्राण त्याग दे। पर उसमें इतनी समझदारी नहीं है इसलिये जो इस बात को समझते है उनका कर्तव्य है कि वे सिंह को प्राण-त्याग करायें।

**प्रश्न**--सिंह विक्रमशाली प्राणी है इसलिये उच्च श्रेणी का है हरिण आदि निर्बल होने से क्षुद्र श्रेणी के प्राणी हैं इसलिये सिंह की कोटि में कैसे रक्खे जा सकते हैं ?

**उत्तर**--यहाँ प्राणियों की श्रेणी शारीरिक शक्ति के अनुसार नहीं किन्तु चैतन्य शक्ति के अनुसार समझना चाहिये। शारीरिक शक्ति में मनुष्य सिंह से निर्बल है पर इसका चैतन्य बल अनेक गुणा है। सुख दुःख का सम्बन्ध चैतन्य शक्ति से है शारीरिक शक्ति से नहीं। इसलिये अपनी रक्षा के लिये सिंह जो प्राणिवध करता है उससे जगत की कई गुणी हानि है।

**प्रश्न**--मनुष्य तो पशुओं से श्रेष्ठ है इसलिये वह अगर प्राणिवध करे तब तो हानि नहीं ?

**उत्तर**--एक पशु का वध अगर एक मनुष्य के रक्षण के लिये अनिवार्य हो तब तो हानि नहीं--बशर्ते कि इस अपवाद का उपयोग निस्वार्थता के साथ किया जाय--परन्तु एक पशु के वध से एक मनुष्य का रक्षण दो चार दिन के लिये ही हो सकता है इस प्रकार उसके लम्बे जीवन में मनुष्य अनेक पशुओं को नष्ट कर देता है इसलिये यह ठीक नहीं, इससे सुख की अपेक्षा दुःख बढ़ जाता है। मतलब यह कि इस नीति के अनुसार मांस-भक्षण का समर्थन नहीं किया जा सकता।

**प्रश्न**--जीवन निर्वाह के लिये जहां पशुवध के बिना दूसरा कोई मार्ग न हो वहां वह क्या करे ? जैसे उत्तर ध्रुव की ओर खेती आदि नहीं हो सकती वहां पशुवध अनिवार्य है। और कई देश ऐसे हैं जहां कृषि आदि इतनी मात्रा में नहीं हो सकती कि सब मनुष्यों की गुजर हो सके वहां जितने अंश में अन्न की कमी होगी उतने अंश में पशुवध या मत्स्यादिवध करना पड़ेगा।

**उत्तर**--जहां शाकादि का अभाव है वहां दो कारणों से पशुवध की छूट दी जा सकती है। पहिला तो यह कि जहां शाकादि नहीं है वहां अन्य जानवर भी मांसभक्षी होंगे उनके वध से उनके भक्ष्य अन्य अनेक जानवरों का रक्षण होगा। दूसरा यह कि वहां मनुष्य सरीखे असाधा-

रण बुद्धिमान प्राणी का मूल्य अधिक हो जायगा और इसीलिये उसका रक्षण अधिक जरूरी हो जायगा। फिर भी यह बात तो रहेगी ही कि जहां मांस भक्षण अनिवार्य हो उठा है वहां जीवन का ध्येय पूरे रूप में पाया नहीं जा सकता, मनुष्यता का और धर्म का पूर्णरूप दिखाई नहीं दे सकता। ऐसे स्थानों में उतने ही मनुष्यों को रहना चाहिये जितने का वहां शाकपर निर्वाह हो सके। शाक प्राप्त होने पर भी मांस भक्षण करना जीवन के ध्येय को नष्ट करना है। जहां शाक प्राप्त न हो वहां हिंस्र पशुओं का वध किया जा सकता है। भोजन के लिये शाक-भोजी पशुओं का वध न करना चाहिये। क्योंकि इससे जितना दुःख बढ़ता है उतना दुःख रुकता नहीं है न उतना सुख बढ़ता है।

प्रश्न-क्या विश्वसुखवर्धन की नीति निर्बल को सताने का अधिकार देती है। प्रकृति तो बलवान का ही चुनाव करती है अगर धर्म भी यही कार्य करता है तो उसकी आवश्यकता ही क्या है? जो काम स्वाभाविक रूप हो में रहा है उसके लिये इतना प्रयत्न क्यों?

**उत्तर--प्रकृति को सुखदुःख विवेक नहीं है उसको सिर्फ बलाबल विवेक है।** प्रकृति बलवान को जिलाती है और बल का मतलब शरीर बल ही नही है किन्तु मन बुद्धि आदि का वह बल भी है जो आत्मरक्षण के लिये अनुकूल हो। इस प्रकार प्रकृति सब से अनुकूल का चुनाव करती है। न्याय अन्यायकी भी उसे पर्वाह नहीं है। **प्रकृति की इस कमी को यथासाध्य दूर करने के लिये धर्म है।** धर्म दुःख घटाने और सुख बढ़ाने के लिये प्रयत्न करना है।

प्रश्न—यदि धर्म को प्रकृति का विरोध करना है तब धर्म असफल ही रहेगा क्योंकि प्राकृतिक नियम अटल है।

उत्तर—प्राकृतिक नियम अटल हैं पर कुछ अंश में ही वे धर्म के बाधक हैं। जैसे प्रायः प्रत्येक जीव को दूसरे जीव का भक्षण करके निर्वाह करना पड़ता है। प्रकृति ने जो यह कुछ अंश में आवश्यक संहार रूप धारण किया है उसका अमुक अंश में नियन्त्रण किया जा सकता है। जैसे-दूसरे जीवों का कम संहार हो, संसार में भी अधिक चैतन्य वालों का कम संहार हो। इस प्रकार का नियन्त्रण या संशोधन धर्म का काम है और यह प्रसन्नता की बात है कि धर्म के इस कार्य में प्रकृति काफी सहायता पहुंचाती है। प्राकृतिक नियम अपने सदुपयोग के लिये या नियन्त्रण के लिये काफी सहायता पहुंचाते हैं इसके दृष्टान्त चारों ओर भरे पड़े हैं। जैसे प्राकृतिक नियम के अनुसार आकर्षण शक्ति के कारण पानी नीचे ( केन्द्र की ओर ) बहता जाता है परन्तु इसी नियम का उपयोग हम नल के द्वारा जल ऊपर ले जाने में भी करते हैं। टंकी के पानी पर जो आकर्षण शक्ति का दबाव पड़ता है वही दबाव नल के जल को ऊपर ले जाता है। इस प्रकार प्राकृतिक नियम ही पानी को ऊपर ले जाने में सहायता पहुंचाता है। धर्म के विषय में भी यही बात है। प्रकृति के नियमानुसार ही हम प्रकृति की कमी को पूरा करते हैं। उदाहरणार्थ-निर्बल होते हुए भी प्रेम से संगठित जाति अधिक जीती है और परस्पर में लड़नेवाली असंगठित जाति जल्दी नष्ट हो जाती है या गुलाम बनकर दूसरों का शिकार बनती है यह प्राकृतिक नियम धर्म में सहायक

है। इस प्रकार धर्म का प्रकृति से विरोध नहीं है। धर्म को प्रकृति के कार्यों में से चुनाव करना पड़ता है। और अधिक सुख के अनुकूल उसे समतोल बनाना पड़ता है।

**प्रश्न**–अधिक सुख पैदा करना अगर धर्म का कार्य हो तो इससे एक बड़ा अन्धेर हो जायगा। जब किसी कारण वश हमें दूसरों को सताना अनिवार्य हो जायगा या किसी स्वार्थवश कोई दूसरों को सतायगा तब निर्बल को सताने की अपेक्षा बलवान को सताने में कम पाप होगा, असंयमी को सताने की अपेक्षा संयमी को सताने में कम पाप होगा, अयोगी को सताने की अपेक्षा योगी को सताने में कम पाप होगा क्यों कि बलवान संयमी और योगी अपने तन बल और मन बल के कारण अधिक दुःख सहन कर सकते हैं। इस प्रकार संयमी और योगी के लिये आपकी नीति विचित्र बदला देगी। तब सताये जाने के लिये संयम या योग कौन धारण करेगा?

**उत्तर**–इसके उत्तर में चार बातें कहीं जा सकती हैं पहिली यह कि अमुक अंश में यह बात सत्य है। एक गरीब की चोरी की अपेक्षा अमीर की चोरी में कम पाप है। हां, अन्य सब परिस्थितियाँ समान होना चाहिये। यही बात शक्ति आदि के विषय में भी कही जा सकती है। दंड देते समय भी हम इस बात का विचार करते हैं कि यह सहन करने योग्य है या नहीं? जो बातें इस लोक नीति के लिये लागू है वही धर्म भी कहता है। पर संयमी आदि के बारे में हम दूसरी बातों का भी विचार करना पड़ेगा।

दूसरी बात यह है कि दुःख होना एक बात है और दुःख-सहन करना दूसरी बात। गरीब की अपेक्षा अमीर की चोरी करने में कम पाप है इसका कारण यह है कि गरीब की अपेक्षा अमीर की कम हानि होती है इसलिये उसे दुःख भी कम होता है। जिसका शरीर बलवान है उसको चोट करने में कम पाप है क्योंकि उसके स्नायु आदि मजबूत होने से उनपर चोट का असर कम पड़ता है इसलिये दुःख भी कम होता है। इस प्रकार अन्य परिस्थितियों की समानता में जहां पर दुःख कम होता हो वहां पाप भी कम होता है। पर संयमी या योगी के विषय में यह बात नहीं है उसे दुःख कम नहीं होता है परन्तु वह संयम के कारण सहन अधिक करता है। संयमी या योगी निर्बल होने पर भी अधिक से अधिक चोट सह-जाता है इसका कारण यह नहीं है कि उसे दुःख नहीं हुआ, दुःख तो पूरा हुआ पर उसने पर्वाह नहीं की। वह पर्वाह करे या न करे परन्तु विश्व में दुःख की वृद्धि तो हुई ही इसलिये संयमी को अधिक दुःख देने की नीति खराब है। विश्वसुख-वर्धन का ध्येय उसका समर्थन नहीं करता।

तीसरी बात यह है कि असंयमी की अपेक्षा संयमी या योगी को दुःख अधिक होता है। क्यो-कि उसकी संवेदन शक्ति बढ़ी चढ़ी होती है। जो झगड़ असंयमी को दुखी नहीं करते उनसे संयमी घबराता है दूर भागता है। इस प्रकार उसकी संवेदन शक्ति अधिक होने से उसका दुःख और सुख भी बढ़ता है। अगर उसे दुःख दिया जाय तो असंयमी की अपेक्षा अधिक होगा। यह बात दूसरी है कि वह उसे व्यक्त न करेगा वैर न बसायगा विश्वप्रेम या माध्य-भावना का चिन्तवन कर सह जायगा। पर दुःख होगा अधिक, इसलिये विश्व सुखवर्धन के लिये संयमी का अधिक ख्याल रखना चाहिये।

चौथी बात यह है कि संयमी या योगी दूसरों को कमसे कम दुःख और अधिक से

अधिक सुख देता है इसके बदले मे अगर उसे अधिक दुःख मिले तो मनुष्य असंयम की ओर चला जायगा इससे दूसरों को और अपने को भी अधिक दुःख दे डालेगा इस प्रकार सार्वकालिक दृष्टि से विश्वसुख वर्धन मे बाधा पड़ेगी इसलिये भी संयमी को दुःख न देना चाहिये।

इस प्रकार विश्वसुखवर्धन का ध्येय संयमी को दुखी करने का समर्थन नहीं करता।

**प्रश्न**--विश्वसुख वर्धन का कितना ही प्रयत्न किया जाय पर इस में सन्देह नहीं कि हमारे द्वारा प्राणियो की हिंसा होगी ही और हम दूसरों के दुःख के कारण बनेंगे ही, ऐसी हालत मे हम अपना ध्येय मोक्ष क्यों न रक्खे ? मुक्तात्मा किसी की हिंसा नहीं करता।

**उत्तर**--इसमे भी वही बात है। हमारे द्वारा हिंसा होती है हिंसा से दुःख होता है इससे मोक्ष चाहिये, इसका मतलब यही कि हमारे द्वारा जो दूसरों को दुःख होता है वह दूर हो जाय। यह सुखवर्धन ही है; इस प्रकार हमारी मुक्ति-कामना भी विश्वसुखवर्धन के लिये कहलाई। इसलिये मोक्ष अंतिम ध्येय नहीं किन्तु उपध्येय कहलाया। इसीलिये कदाचित् मोक्ष की मान्यता में बाधा आ जाय तोभी हम विश्वसुखवर्धन के लिये प्रयत्न करेंगे। विश्वसुख वर्धन का ध्येय हमे पथ-निर्देश करता है कर्तव्य--निर्णय की कसौटी बनता है परन्तु मोक्ष अत्यन्त परोक्ष और विश्वासगम्य है वह कर्तव्य-निर्णय मे सहायता नहीं पहुंचाता।

यह बात उस मोक्ष के लिये कही जा रही है जिसका अर्थ शरीर और आत्मा का अनन्त काल के लिये विच्छेद है, परन्तु मोक्ष नाम का पुरुषार्थ जो कि स्वाधीन सुखरूप और इसी जीवन की चीज है वह तो विश्वसुख-वर्धन का ही अंग है। इसलिये ध्येय के भीतर ही कहलाया। उसे स्वतन्त्र ध्येय नहीं बनाया जा सकता।

**प्रश्न**--मोक्ष पुरुषार्थ को ही अन्तिम या पूर्ण ध्येय मान लिया जाय तो ?

**उत्तर**--सुख की पूर्णता काम और मोक्ष दोनों के सम्मिलन मे है। एक एक से जीवन सफल नहीं होता। केवल मोक्ष पुरुषार्थ को ध्येय बनाने से मनुष्य विश्वसुख की पर्वाह नहीं करेगा इसका परिणाम यह होगा कि विश्व भी इसकी पर्वाह न करेगा, इस प्रकार सहयोग नष्ट होने मे जीवन का टिकाना अशक्य हो जायगा, यहां महामृत्यु का तांडव होने लगेगा। इसलिये मोक्ष पुरुषार्थ को विश्वसुख-वर्धन का अंग मान कर ध्येय का अंश मानना चाहिये।

[ इन पुरुषार्थों का वर्णन विशेष रूप मे पुरुषार्थ प्रकरण में किया जायगा ]

**प्रश्न**--महामृत्यु का भय करना व्यर्थ है वह तो अनन्त शान्ति है। जीवन मे सुख की अपेक्षा दुःख बहुत है। अगर प्रलय हो जाय तो दुःख और सुख दोनो चले जाँय। इस तरह हम लाभ मे रहे इसलिये प्रलय ही हमारे जीवन का अंतिम ध्येय क्यो न हो ?

**उत्तर**--यह प्रलय की इच्छा भी इसीलिये है कि हम दुःख से छूटें और इससे हमें शान्ति या सुख मिले। इस प्रकार प्रलय की आकांक्षा के मूल में भी सुखवर्धन की आकांक्षा ही काम कर रही है। पर प्रलय के द्वार से सुखवर्धन का मार्ग कुमार्ग है। इस मे दो आपत्तियाँ है। पहिली तो यह कि प्रलय हमारे हाथ मे नहीं प्रकृति के हाथ में है। पृथ्वी किसी दिन जल उठे या सूर्य के बुझ जाने से एकदम ठंडी हो जाय और पशुपक्षी मनुष्य सब

नष्ट हो जाँयँ तो प्रलय हो सकता है पर यह हमारे हाथ में नहीं है। इसलिये प्रलय को ध्येय बनाना या न बनाना यह विचार ही निरर्थक है। दूसरी बात यह है कि कोई प्राणी प्रलय नहीं चाहता। विक्षोभ की अवस्था में कोई आत्म-हत्या करले यह दूसरी बात है पर सभी अधिक से अधिक जीना चाहते हैं। प्राणियों की यह जीवनाकांक्षा इतनी प्रबल है कि प्रलय को ध्येय बनाना व्यर्थ हैं।

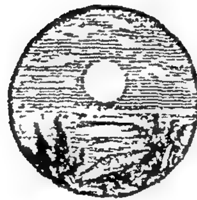
**प्रश्न**-जो प्रलय हमारे वश में नहीं है उसे जाने दीजिये और जो लोग प्रलय नहीं चाहते उन्हें भी जाने दीजिये पर जो प्रलय हमारे वश में है और जो उसे चाहते हैं उन्हें वह प्रलय प्राप्त करना चाहिये। जैसे आत्महत्या के द्वारा अंश-प्रलय पाया जा सकता है जो दुःख सुख का हिसाब लगा सकते हैं वे दुःख से छूटने के लिये आत्महत्या क्यों न करें?

**उत्तर**—जीवन में ऐसे अवसर भी आते हैं जब मनुष्य को विश्वसुख के लिये या स्वाभिमान आदि आत्मसुख के लिये प्राणदान करना पड़ता है, ऐसे अवसर पर वह प्रलय या प्राणदान सुख-वर्धन का कारण होने से उपादेय बन जाता है। अंतिम ध्येय तो वहां भी सुखवर्धन है। साधारण अवस्था में आत्महत्या हेय और व्यर्थ है। क्योंकि आत्मा अगर अमरतत्त्व है तो शरीर के छोड़ देने पर भी वह दुःख से नहीं छूट सकता उसे तुरंत दूसरा शरीर मिलेगा और वह इससे अच्छा ही होगा इसका कोई ठिकाना नहीं। अगर अच्छा भी हो तो भी जन्म समय के कष्ट भारी पड़ते हैं। और बुरा हुआ तब तो दुहरी मार समझना चाहिये। अगर आत्मा अमर नहीं है, भौतिक पिंड ही है तब भी आत्म हत्या व्यर्थ है क्योंकि यह भौतिक पिंड फिर नाना शरीर धारण कर प्राणियों की सृष्टि करेगा कदाचित् एक की जगह अनेक प्राणी हो सकते हैं और वे हमारी अपेक्षा अधिक दुःखी हो सकते हैं इसलिये आत्महत्या आदि करके दुःख से छूटने की कल्पना निरर्थक है। जीवन सब चाहते हैं और दुःख कोई नहीं चाहता इसलिये जीवन के साथ दुःख दूर करना या सुख बढ़ाना ही हमारा अंतिम ध्येय होना चाहिये।

**प्रश्न**--प्रलय असंभव है, अनिष्ट है इसलिये जाने दीजिये परन्तु अकषायता को ध्येय बनाने में क्या आपत्ति है? जितने दुःख हैं वे सब क्रोध मान माया लोभ आदि के परिणाम हैं, इन सब मनोवृत्तियों का नाश करना हमारे जीवन का ध्येय हो तो सब दुःख दूर हो जाँयँ, सब झगड़े शान्त हो जाँयँ, अनन्त मोक्ष अगर हो तो वह भी मिल जाय न हो तोभी यहीं सुख शान्ति होने से अकषायता सफल हो जाय।

**उत्तर**--इस प्रश्न में भी यह बात तो है ही कि अकषायता दुःख दूर करने के लिये या सुख शान्ति पाने के लिये है इसलिये अंतिम ध्येय सुखशान्ति रही उसके साधन के रूप में अकषा-यता रही। अगर **अकषायता का नाम या अर्थ सुखशान्ति के मार्ग में बाधक हो तो उसे छोड़ा भी जा सकता है**। अकषायता सुख की तरह निर्विवाद नहीं है न उसका कोई निश्चित रूप है। क्रोध आदि वृत्तियों का नाश हो सकता है या नहीं? अथवा होने से चैतन्य भी बचेगा या नहीं ये सब अनिश्चित बातें हैं। गंभीर विचार से यही मालूम होता है कि क्रोध मान माया लोभादि का नाश नहीं किया जा सकता, उनका दुरुपयोग रोका जा सकता है, उन पर अंकुश रक्खा जा सकता है, यही अभीष्ट भी है। अन्याय

र क्रोध करना धर्म है और अन्याय पर उपेक्षा निर्बलता या कायरता है इसलिये पाप है। अभिमान से दूसरों का अपमान करना पाप है र अहंकारियों या अत्याचारियों के सामने आत्म-गौरव या लोक-गौरव या न्याय-गौरव की रक्षा करना धर्म है। स्वार्थवश दूसरों को छलना पाप है किन्तु उसके कल्याण के लिये अतथ्य–भाषण पाप नहीं है। लोभ पाप है पर उसीका एकरूप शुद्ध प्रेम पाप नहीं है। मतलब यह है कि इन मनोवृत्तियों का उपयोग देखना चाहिये। इनके सात्विक रूप की आवश्यकता है। जनकल्याण विरोधी दुःस्वार्थमय रूप की आवश्यकता नहीं है, उन्हें ही नष्ट करना चाहिये। अकषायता की पराकाष्ठा पाने के लिये प्रसिद्ध महावीर बुद्ध आदि महात्माओं में इन मनोवृत्तियों का सात्विक रूप था इसीके बलपर वे समाजक्रान्ति कर सके थे संगठन कर सके थे। अगर उनकी ये मनोवृत्तियाँ हर तरह नष्ट हो गईं होतीं तो वे जड़ समान हो जाते। मनोवृत्तियों के इस सात्विक रूप को अकषायता शब्द से ठीक ठीक नहीं समझ सकते उनकी सात्विकता का निर्णय विश्वसुख-वर्धन की कसौटी पर ही किया जा सकता है और उसीके लिये उनका उपयोग है। इसलिये सार्वकालिक और सार्वदेशिक दृष्टि से विश्वसुखवर्धन ही जीवन का अन्तिम ध्येय है।



# दृष्टिकांड, तीसरा अध्याय (मार्गदृष्टि)

## [ सुख-दुःख-समस्या ]

खुद सुखी रहने और जगत को सुखी करने का ध्येय निश्चित होने के बाद उस ध्येय को पाने का मार्ग ढूँढ़ना ज़रूरी है। इसके लिये पहिले यह सोचना चाहिये कि दुःख क्या है, कितने तरह का है, किन किन कारणों से पैदा होता है? दूसरी बात यह कि दुःखों पर विजय कैसे पाना चाहिये? तीसरी बात यह कि सुख क्या है, कितने तरह का है, कैसे पैदा होता है? चौथी बात यह कि सुख प्राप्त कैसे करें? इन चार बातों के विचार में ध्येय मार्ग साफ़ दिखाई देने लगता है। इनमें से दुःख दूर करने के उपाय और सुख पाने के उपाय प्रायः मिल जाते हैं इसलिये इनका विचार भी मिल कर एक साथ करना होगा। इस प्रकार हमारे सामने तीन विचार बन जाते हैं। **१ दुःख विचार २ सुख विचार ३ उपाय विचार।**

## १ दुःख-विचार

दुःख एक ऐसा संवेदन है जो अपने को अच्छा नहीं मालूम होता अर्थात् **प्रतिकूल या अनिष्ट-संवेदन दुःख है।**

यद्यपि सभी दुःख मन के द्वारा होते हैं फिर भी कुछ दुःख ऐसे है जो सीधे मनपर असर पड़ने से होते हैं और कुछ ऐसे हैं जो शारीरिक विकार से सम्बन्ध रखते हैं। यद्यपि सभी दुःखों का असर मन और शरीर पर पड़ता है फिर भी किसी में मन की प्रधानता है किसी में शरीर की। मानसिक दुःखों में पहिले मनपर असर पड़ता है पीछे उसका असर शरीर पर होता है। शारीरिक दुःखों में पहिले शरीर पर असर पड़ता है फिर मनपर। जैसे किसी ने तमाचा मारा, तो तमाचे का दुःखद प्रभाव पहिले शरीर पर होगा पीछे मनपर। और किसीने गाली दी तो गाली का दुःखद प्रभाव शरीर पर नहीं है, मनपर है। हां, मनमें दुःख होने से चिन्ता हो उससे शरीर सूखने लगे तो बात दूसरी है।

कभी कभी ऐसा होता है कि एक ही घटना मन और शरीर दोनों पर सीधी ही दुःखद प्रभाव डालती है जैसे किसी ने तमाचा मारा तो शारीरिक चोट से जो वेदना हुई वह शारीरिक दुःख कहलाया और अपमान के अनुभव से जो वेदना हुई वह मानसिक कष्ट कहलाया। इस प्रकार संक्षेप में दुःख दो तरह के हुए **१—शारीरिक २—मानसिक।**

शारीरिक दुःख छः तरह के हैं—**१ आघात २ प्रतिविषय, ३ अविषय, ४ रोग, ५ रोध ६ अतिश्रम।**

**१—आघात**—शस्त्रास्त्र से या हाथ आदि से अथवा और किसी चीज़ से शरीर को जो दुःखद चोट लगती है वह आघात दुःख है।

**२—प्रतिविषय**—इन्द्रियों के प्रतिकूल विषय से जो चोट पहुँचती है वह प्रतिविषय है। जैसे

जिससे लाघव कहा जाय इसलिये व्यग्रता एक अलग ही दुःख है। व्यग्रता एक तरह की मानसिक निर्बलता का परिणाम है। व्यग्रता जितनी अधिक हो मानसिक शक्ति उतनी ही कम समझना चाहिये। व्यग्रता से क्रोध (झुंझलाहट) चिन्ता, आदि भाव पैदा होते है। अभ्यास न होने से या मन निर्बल होने से व्यग्रता अगर बढ़ जाय तो दुःख अधिक होगा पर अगर संयम हो तो वह दुःख सहा जा सकेगा।

**सहवेदन**–प्रेम करुणा भक्ति आदि के वश होकर दूसरो के दुःख मे दुःखी होना सहवेदन दुःख है। कभी कभी सहवेदन दुःख अपने किसी स्वार्थ के कारण अन्य दुःखों में भी परिणत हो जाता है। जैसे अपने नौकर को चोट लगगई इससे अपने को दुःख हुआ। यह दुःख सहवेदन भी हो सकता है और नौकर दो चार दिन काम न कर सकेगा इस भाव से अनिष्ट--योग भी हो सकता है। जहाँ जितने अंश में शुद्ध प्रेम के वश मे होकर दूसरों के दुःख में हम दुःखी होते है वहाँ उतने अंश मे हमे सहवेदन--दुःख होता है। लोकसेवी महात्माओ को सब दुःख छूट जाने पर भी यह दुःख बना रहता है। यह दुःख जगत के दुःख दूर करने में सहायक होने से आवश्यक दुःख है। यह दुःख रौद्रानन्द का विरोधी और प्रेमानन्द का सहयोगी है।

इस प्रकार कुल ग्यारह प्रकार के दुःख है।

## २ सुख-विचार

जो संवेदन अपने को अच्छा लगे वह सुख है अर्थात् **अनुकूल या इष्ट-संवेदन का नाम सुख है**। सुख और दुःख किसी क्रिया का नाम नहीं है जो क्रिया आज सुख देती है वही कल दुःख दे सकती है। गरमी में वस्त्र-हीनता सुखद हो सकती है शीत में दुःखद। कभी हाथ पैर दबाना या मरोड़ना दुःखद हो सकता है कभी (जैसे नाई के द्वारा) सुखद। इसलिये सुख-दुःख, संवेदन पर ही निर्भर है किसी क्रिया पर नहीं। सुख छः तरह के हैं:—

**१ प्रेमानन्द २ जीवनानन्द ३ विषयानन्द ४ महत्वानन्द ५ मोक्षानन्द ६ रौद्रानन्द**

**१ प्रेमानन्द**–प्रेमसे आनन्द तो होता ही है परन्तु प्रेम आनन्द के इतने पास है कि उसे प्रेम ही कह दिया जाय तो यह कोई बड़ा रूपक न होगा। हृदय से हृदय मिलने का आनन्द सुलभ स्वाभाविक और निर्दोष आनन्द है। दो सच्चे मित्र जब मिलते हैं तो वे आपस में कुछ दें या न दे परन्तु वे पूर्ण आनन्द पाते हैं। गाय बछड़े से या मा बेटेसे कुछ पाने की इच्छा से सुखी नहीं होती किन्तु प्रेम से सुखी होती है। प्रेम जितना फैलता जाता है सुख उतना ही निर्दोष और स्थायी होता जाता है। जो विश्वप्रेमी हैं वह प्रेमानन्द की पराकाष्ठा पर पहुंचा हुआ है। वह पूर्ण वीतराग, पूर्ण अकषाय, पूर्ण योगी और पूर्ण सुखी है। प्रेमानन्द सब सुखों में श्रेष्ठ है वह अधिक से अधिक निर्दोष और अधिक से अधिक स्थायी है।

**२ जीवनानन्द**--जीवन के लिये उपयोगी पदार्थों के मिल जाने से जो आनन्द होता है वह जीवनानन्द है। जैसे रोटी मिलना, पानी मिलना हवा मिलना आदि का आनन्द। जीवन की स्थिरता और उसके साधन प्राणी को एक प्रकार का सुख देते है वह जीवनानन्द है।

**३ विषयानन्द**–स्वादिष्ट भोजन, संगीत सौन्दर्य, सुगंध, अच्छा स्पर्श आदि का आनन्द विषयानन्द है।

**शंका**—जीवनानन्द भी खाने-पीने का आनन्द है और विषयानन्द भी खाने-पीने का आनन्द है फिर दोनों में अन्तर क्या है ?

**समाधान**—जीवनानन्द में इन्द्रिय--विषय-सेवन की मुख्यता नहीं है। पेट भरना एक बात है और स्वाद लेना दूसरी बात। अगर भरपेट भोजन मिल जाय तो रूखे सूखे भोजन मे भी जीवनानन्द मिल सकेगा पर विषयानन्द न मिलेगा। अगर स्वादिष्ट भोजन मिल जाय तो खाली पेट रहने पर भी विषयानन्द मिल जायगा पर जीवनानन्द न मिलेगा। शराबी जीवनानन्द नहीं पाता पर विषयानन्द पा जाता है। विषयानन्द जिस प्रकार अन्त में दुःख बढ़ाने वाला है वैसा जीवनानन्द नहीं। विषयानंद के चक्कर में पड़कर मनुष्य जीवनानंद खो बैठता है इसलिये कभी कभी इन दोनों आनन्दों मे विरोध भी हो जाता है।

**महत्वानन्द**—मान, प्रतिष्ठा, यश आदि का आनन्द महत्त्वानन्द है। दूसरों से अपनी तुलना करने पर जो कभी संतोष होता है वह भी महत्त्वानंद है। इससे मनुष्य एक प्रकार के महत्त्व का अनुभव करता है। महत्त्वाकांक्षा एक प्रबल आकांक्षा है जो थोड़े बहुत रूप में सब में पाई जाती है। निराशा या दीनता के कारण कभी सो जाती है, गम्भीरता के कारण कभी कभी बाहर प्रगट नहीं होती, मात्रासे अधिक महत्त्व मिल जाने से या मिलते रहने मे उसपर उपेक्षा अर्थात् लापर्वाही पैदा हो जाती है अथवा संयम के कारण भीतर भी वह मर्यादित रहती है या चातुर्यके कारण मर्यादितरूप में प्रगट होती है; यह सब है पर वह किसी न किसी रूप में सब में रहती है--वह निर्बीज नहीं होती। उसकी पूर्ति से एक अनिर्वचनीय आनन्द मिलता है। बहुत से लोग इस आनन्द के लिये सारी धन सम्पत्ति अधिकार तथा जीवन तक दे डालते हैं।

**मोक्षानन्द**-अन्य सुख निरपेक्ष, दुःख से छूटने का जो सुख है वह मोक्षानन्द है। कभी २ मोक्षानन्द के साथ साथ जीवनानन्द विषयानन्द आदि मिल जाते हैं। जैसे बच्चों को छुट्टी मिली और उन्हें यह आनन्द हुआ कि अब घर चलकर अच्छा अच्छा भोजन मिलेगा या खेलने को मिलेगा तो इस विषयानन्द और प्रेमानन्द के साथ छुट्टीका मोक्षानन्द बढ़ गया पर अन्य आनन्द न मिलने पर भी दुःख छूटने का जो आनन्द है वह एक स्वतन्त्र ही आनन्द है। अन्य आनन्दों की जहां कल्पना भी नहीं होती वहां मोक्षानन्द होता है। बीमारी से छूटने पर या और किसी तरह बन्धन-मुक्त या दुःखमुक्त होने पर यह आनन्द होता है। यद्यपि कभी कभी अन्य आनन्दों की आशा से मोक्षानन्द बढ़ जाता है या मालूम होता है परन्तु कभी कभी बन्धन-मुक्ति के बाद का भविष्य अन्धकारमय होने पर भी मोक्षानन्द होता है। बहुत से कैदी लम्बी कैद काटने के बाद इस चिन्ता में परेशान रहते हैं कि जेल से छूटने के बाद कहां जाँयगे ? क्या करेंगे ? आदि, इस प्रकार उनका भविष्य अन्धकारमय होने पर भी वे जेल से छूटने की तारीख की बाट प्रसन्नता से देखा करते हैं इसलिये अन्य आनन्द मिलें या न मिलें पर मोक्षानन्द स्वतन्त्र आनन्द है।

**रौद्रानन्द**—दूसरों को निरपराध दुःखी होते देख सुखी होना रौद्रानन्द है। शिकार का आनंद इसी तरह का आनन्द है। ईर्ष्यावश शत्रु को निरपराध दुःखी देखकर जो आनन्द होता है वह भी रौद्रानन्द है। जानवरों को लड़ाना और एक के या दोनों के घायल होने या मर जाने पर

सुखी होना भी रौद्रानंद है। **रौद्रानन्द को पापानन्द भी कहा जा सकता है।**

**शंका**—समाज को सतानेवाला कोई आततायी मनुष्य या पशु हो उसको दंड दिया जाय और दंड दे सकने पर संतोष हो तो इसे भी रौद्रानन्द कहना होगा पर यह तो समाज के सुखवर्धन के लिये आवश्यक कार्य है इसे पापानन्द कैसे कह सकते है ?

**समाधान**--निरपराधों को दुःखी देखकर जो आनंद होता है वह रौद्रानंद है--सापराधों को नहीं, पर मन में क्रूरतारूपी पाप हो तो सापराधो के विषय मे भी हमे रौद्रानंद होगा। जैसे किसी अपराधी को हंटर से मार पड़ रही है, हम अकस्मात् देखने पहुँच गये, हमें इससे कोई मतलब नहीं कि इसने कोई अपराध किया या नहीं, हमे तो उसकी तड़पन देखकर ही आनंद आ रहा है तो ऐसी अवस्था में यह आनंद रौद्रानंद ही कहलायगा। अगर हममें जानकारी और समाजहित का ध्यान हो तो आततायी के पीड़न से जो समाज की रक्षा हुई उससे मोक्षानंद मिलेगा पर समाजहित या न्यायरक्षण की तरफ़ हमारा ध्यान नहीं है तो सापराधी के दंड-दुःख में भी हमें रौद्रानंद मिलेगा और इसे पापानन्द ही कहना चाहिये।

**प्रश्न**—क्रीड़ा, विनोद आदि मे जो आनन्द आता है इसे विनोद नामका स्वतन्त्र आनन्द क्यो न कहा जाय ?

**उत्तर**—विनोद नाम का आनंद प्रेमानन्द है। कभी इसके साथ महत्त्वानन्द, विषयानन्द जीवनानन्द आदि भी मिल जाते है पर अन्य सुखों से निरपेक्ष विनोद का आनन्द प्रेमानंद है।

# ३ उपाय-विचार

पहिले जो ग्यारह प्रकार के दुःख बताये गये हैं वे कैसे कैसे पैदा होते है ? उनके कितने द्वार है ? वे कैसे बंद किये जा सकते हैं जिससे दुःख न आवें, यदि आजाँयें तो हम क्या करें, उन्हें कैसे जीतें ? अथवा क्या कोई दुःख अनिवार्य या आवश्यक है ? यदि हैं तो कितने अंश में ? आदि बहुत सी बातें उपाय-विचार के विषय हैं। इसी प्रकार छः प्रकार के सुखों मे कौन कौन सुख कितने अंश में उपादेय है ? और हम उन्हें कैसे पा सकते है ? इन सब का पूरा विचार एक अध्याय में नहीं किया जा सकता। यहां तो दुःख-निरोध और सुख-प्राप्ति के बारे में कुछ बातें कहकर दृष्टि-दान ही करना है।

**तीन द्वार**—दुःखों के तीन द्वार हैं--१ **प्रकृति द्वार २ परात्म--द्वार ३ स्वात्मद्वार**। कुछ तो प्रकृति की रचना ही ऐसी है कि एक न एक दुःख प्राणी के पीछे पड़ा रहता है। यह शरीर ही घृणित है, इसमें जल्दी ही रोग हो जाते है, भोगों से कमज़ोर हो जाता है, थोड़े समय बाद यो ही क्षीण होने लगता है और अन्त मे छूट जाता है। फिर प्रकृति हमारी दासी नहीं है। उसके कार्य नियमानुसार होते रहते है, भले ही वे हमारे अनुकूल हों या प्रतिकूल, प्रकृति को इस की पर्वाह नहीं है। हम भले ही ठंडी हवा चाहे पर अगर लू चलना है तो हमारी पर्वाह किये विना लू ही चलेगी। हमे पानी की ज़रूरत है पर अगर पानी के साधन नहीं जुड़े है तो पानी नहीं बरसेगा। इस प्रकार हमारी ज़रूरतो और इच्छाओ का प्रकृति से मेल नहीं बैठता। इस प्रकार प्रकृति द्वारा हमे बहुत दुःखी होना पड़ता है।

प्राणियों के परस्पर संघर्ष से भी बहुत से

दुःख होते हैं । प्राणियों की लालसा असीम है और प्राप्त सामग्री परिमित है । सब अपने अपने लिये खींचातानी करते हैं इसलिये दुःख कई गुणे बढ़ जाते हैं । अकाल को हम प्राकृतिक दुःख कह सकते हैं पर देश में भरपूर अन्न होते हुए भी जब आदमियों को भूखों मरना पड़ता है तब यह परात्मद्वारी दुःख हो जाता है । चोरी चपाटी व्यभिचार, हिंसा, छल-कपट आदि के दुःख परात्म-द्वारी दुःख हैं ।

स्वात्मद्वार से आनेवाले दुःख हैं--ईर्ष्या, क्रोध आदि । अज्ञान और असंयम से पैदा होनेवाली हमारी मनोवृत्तियाँ दुःख का पर्याप्त कारण न होने पर भी हमें दुःखी कर देतीं हैं ।

इस प्रकार तीन द्वारों से आनेवाले दुःखों को दूर करने और सुख प्राप्त करने के पहिले यह भी समझ लेना आवश्यक है कि न तो सभी दुःख खराब हैं न सभी सुख अच्छे । किसी किसी का अच्छा बुरापन सदा के लिये या स्वाभाविक है और किसी किसी का कभी कभी के लिये । जैसे सहवेदन-दुःख स्वभावतः अच्छा है और रौद्रानंद सुख स्वाभावतः ख़राब । विषयानन्द और महत्त्वानंद में मात्रा से अधिक होने का बहुत डर है इसलिये इनके विषय में सदा सतर्क रहना चाहिये, ये पीछे बहुत दुःख देते हैं । दुःख सुख के विषय में नीति यह है कि **जो दुःख विश्व-सुख के लिये आवश्यक हो वह सहना चाहिये और जो सुख विश्वसुख में बाधक हो वह छोड़ना चाहिये ।**

जो दुःख दूर करने योग्य हैं उन्हें कैसे दूर करना चाहिये इस विचार में पहिले प्राकृतिक दुःखों का विचार आवश्यक है । प्रकृति की शक्ति असीम है । मनुष्य कैसा भी महान प्राणी हो पर आखिर अमुक अंश में वह भी प्रकृति का एक छोटासा अंश है । उसकी शक्ति प्रकृति की शक्ति के आगे नगण्य ही है । एक ज़रासा भूकम्प पृथ्वी पर जैसा तूफ़ान मचा देता है वैसा मनुष्य कभी नहीं मचा सकता । जब प्रकृति के द्वारा ऐसा कोई प्रचंड आक्रमण होता है तब सहिष्णुता और दूर भागने के सिवाय उस दुःख पर विजय पाने का कोई उपाय नहीं रहता । फिर भी यथाशक्य प्राकृतिक आक्रमणों से बचने के लिये प्रयत्न करना चाहिये । मनुष्यने जो घर, वस्त्र आदि हज़ारों आविष्कार किये हैं उनसे मानव-जाति के बहुत दुःख कम हुए हैं ।

**प्रश्न**—प्राकृतिक जीवन में जो शान्ति और आनन्द है वह आविष्कार-पूर्ण कृत्रिम जीवन में कहाँ है ? सहिष्णुता ही सब दुःखों की दवाई है । आदर्श जीवन बिलकुल नग्न और असंग्रह-शील होगा ।

**उत्तर**—अतिवाद से सदा बचना चाहिये । आविष्कारों के द्वारा मनुष्य को बिलकुल निकम्मा और आलसी बनादेना जैसा बुरा है वैसा ही बुरा सहिष्णुता के द्वारा अपने रक्षण में असमर्थ बना देना है । सहिष्णुता की भी सीमा है और आविष्कार आदि के द्वारा रक्षण की भी सीमा । हमें आवि-ष्कारों का इतना गुलाम न बन जाना चाहिये कि पद पद पर पराधीनता का कष्ट सहना पड़े और उनके लिये जीवन में इतना संघर्ष हो कि विश्व मे सुख की अपेक्षा दुःख बढ़ जाय । इधर सहि-ष्णुता के ऊपर ही सारा बोझ न डालना चाहिये । अनिवार्य दुःखों को वीरता से सहजाना अच्छा और आवश्यक है पर निरर्थक दुःखों को बुलाना अच्छा नहीं । हां, सहिष्णुता का व्यायाम किया जा सकता है जैसा कि म. महावीर आदि

ने साधकावस्था मे किया था। यह कर्तव्य नहीं है। शान्ति और आनन्द न तो सर्वथा प्राकृतिक जीवन में है न सर्वथा कृत्रिम जीवन में, दोनों के समन्वय में है। जब हम किसी एक जीवन से ऊब जाते हैं तब थोड़ी देर के लिये मिलनेवाला दूसरा जीवन शान्ति और आनन्दमय मालूम होता है। घर में रहते रहते जब हम ऊब जाते हैं तब नगर के बाहर मैदान या जङ्गल में आनन्द आने लगता है पर कड़ी धूप या घोर वर्षा मे मैदान मे रहना पड़े तो टहलने का सारा आनन्द भूल जाय। भोजन मे चटनी की आवश्यकता है पर चटनी से ही पेट नहीं भरता उसी तरह **कभी कभी थोड़े समय के लिये अतिवाद भी सुन्दर और स्वादिष्ट मालूम होने लगता है पर वह स्थायीरूप में वैसा ही मालूम नहीं हो सकता।** इसलिये प्राकृतिक जीवन का अतिवाद और कृत्रिम जीवन का अतिवाद दोनों ही छोड़ना चाहिये।

**प्रश्न**—प्रकृति हमारी माता है हम उसके अंग या अंश हैं इसलिये अगर उसी पर अवलम्बित रहें तो क्या बुराई है ?

**उत्तर**—इस तरह हम प्रकृति के कार्य मे अडंगा ही लगायँगे। जो बच्चा भूख लगने पर रोता न हो, स्तनों मे से दूध न चूसता हो, मुँह मे डालने पर पेट के भीतर न खींच ले जाता हो वह माता के कार्य में अडंगा लगाकर आत्महानि ही करता है उसी प्रकार प्राकृतिक शक्तियो का सद्बुद्धि द्वारा उपयोग न करनेवाले प्राणी भी प्रकृति के कार्य में बाधा डालकर अपनी हानि करते है। प्रकृति शक्तियों का भंडार है पर उन शक्तियो का उपयोग करने के लिये हमें कुछ न कुछ प्रयत्न करना ही होगा। **प्राकृतिक जीवन का मतलब पशु के समान बुद्धि-शून्य जीवन बनाना नहीं है किन्तु प्रकृति का ऐसा और इतना उपयोग करना है जिससे प्रकृति कुपित होकर सुख की अपेक्षा अधिक दुःख न दे डाले।** बच्चा माँ का दूध पिये यहां तक माँ को प्रसन्नता है पर वह दाँतों से स्तन काटने लगे तो माँ दूध न पिलायगी और तमाचा तक जड़ देगी। इसी प्रकार प्रकृति का जो अत्युपयोग करते हैं, दूध के साथ उसका रक्त भी चूसलेना चाहते हैं उनका अप्राकृतिक जीवन दुःखद है, पर मर्यादा मे रहकर विश्वहित के अनुकूल प्राकृतिक शक्तियों का अधिक से अधिक उपयोग करना अप्राकृतिक नही है।

**प्रश्न**—आप प्राकृतिक दुःखों से बचने का उपाय भाग जाना भी बताते हैं। पर यह तो कायरता है। कायरता कल्याण का उपाय नहीं हो सकती।

**उत्तर**—रास्ते में अगर पहाड़ आ जाय तो उससे सिर फोड़ लेना बहादुरी नहीं है। बहादुरी है, उसके ऊपर से या दायेंबायें से पार हो जाना। आग लग गई तो उसे बुझा डालना या बिना घबराये उससे बच निकलना बहादुरी है न कि उसमें जल मरना। हाँ, किसी महान कर्तव्य के लिये पहाड़ से टकरा कर मरना पड़े, अग्नि मे जलना पड़े तो यह भी बहादुरी है पर जलने के लिये जलना बहादुरी नहीं है। बहादुरी विश्व-सुख-वर्धन में है। मूढ़ता-पूर्ण हठमें नहीं। **कर्तव्य-मार्ग से भागने का नाम कायरता है पर मार्ग में आये हुए काँटों से बचने का नाम कायरता नहीं है।** दुःखो से बचने के लिये हमे यही नीति रखना चाहिये। इस प्रकार प्राकृतिक दुःखों पर विजय पाने के तीन उपाय है। सहिष्णुता, रोध और चिकित्सा।

परात्मद्वार से आनेवाले दुःखोपर विजय पाने

के लिये निम्न लिखित गुणों या कार्यों की आवश्यकता है। १ सहिष्णुता २ रोध ३ चिकित्सा ४ प्रेम ५ दंड।

१ सहिष्णुता—सहिष्णुता से दुःखों पर विजय मिलती है और कभी कभी दुःख दूर भी हो जाते हैं। जब पीड़क प्राणी देखता है कि इस पर अत्याचार का प्रभाव नहीं पड़ता तब वह हट जाता है। वह हटे या न हटे पर दुःख पर विजय तो मिलती है।

प्रश्न—सहिष्णुता का क्या अर्थ है? कोई प्राणी दुःख नहीं चाहता और जब जिसके सिर पर जो दुःख आ जाता है तब वह उसे सहना ही पड़ता है? इस प्रकार प्रत्येक प्राणी सहिष्णु ही है फिर सहिष्णुता की अलग आवश्यकता बताने से क्या लाभ?

उत्तर—किसी न किसी तरह दुःख भोग लेने का नाम सहिष्णुता नहीं है। किन्तु विचलित हुए बिना सहलेने का नाम सहिष्णुता है। दीन बन कर रो रो कर भोगा जाता है और वीर बनकर हँस हँस कर सहा जाता है। दुःख में जो जितना धीर-अविचलित और अविकृत है वह उतना ही सहिष्णु है।

२ रोध—आघात आदि को रोक रखना रोध है, जैसे छत्त से हम वर्षा की बूँदों को रोकते है, ढाल से तलवार की चोटों को रोकते हैं, उसी प्रकार शत्रु की चोट अपने पर न होने देना रोध है। किसीने फँसाने के लिये जाल बनाया पर हम न फँसे, या और किसी तरह से आक्रमण किया पर अपने को बचा लिया यह रोध है। चोरी से बचने के लिये मकान बनाना, ताले लगाना, पहरेदार रखना आदि सब रोध है।

३ चिकित्सा—रोध में तो चोट होने ही नहीं पाती पर जब चोट हो जाती है तब उसे दूर करना या कम करना चिकित्सा है। जैसे चोरी का माल ढूंढ़ निकालना चिकित्सा है। और भी जितनी तरह की क्षतिपूर्त्ति है वह चिकित्सा है।

ये तीन उपाय तो प्राकृतिक और परात्मकृत दुःखों मे बराबर हैं पर प्रेम और दंड ये दो उपाय प्राकृतिक दुःखों में उपयोगी नहीं है। ये परात्मकृत दुःखों के विजय में ही उपयोगी हैं।

४ प्रेम—दूसरे प्राणियों के द्वारा हमें जो दुःख सहना पड़ते हैं इसमें उनका स्वार्थ और अहंकार कारण होता है। प्रेम के द्वारा उनकी ये दोनों प्रवृत्तियाँ दूर हो जाती है। प्रेम अहंकार को धो डालता है, शत्रुता का भ्रम दूर कर देता है, स्वार्थ-भेद की वासना को कम कर देता है। प्रेम के बिना बात बात मे संशय, खेद, अपमान आदि मालूम होने लगता है और प्रेम होने पर बुराई उपेक्षणीय हो जाती है और बात बात में भलाई दिखाई देने लगती है। मनुष्यों की तो बात ही क्या है हमारी प्रेम-मुद्रा या अन्य व्यवहार मे जब पशुओं को प्रेम का पता लग जाता है तब वे भी मित्र बन जाते है। प्राणि-समाज के कल्याण के लिये यह सर्वश्रेष्ठ औषध है। हमें दूसरों के दिल को प्रेम से ( भक्ति, वात्सल्य सेवा उपकार दान क्षमा सहानुभूति आदि सब प्रेम के ही रूप या कार्य हैं, ) जीतना चाहिये। इससे पर-प्राणिकृत दुःख बहुभाग मे दूर हो जायँगे। जो विश्वप्रेमी है उसके शत्रु अपेक्षाकृत कम होंगे और जो होंगे उनकी चोटों के सहने में उसकी सहिष्णुता बहुत बढ़ जायगी।

प्रश्न—विश्वप्रेम की क्या जरूरत है? हम राष्ट्र-

प्रेमी या अधिक से अधिक मनुष्य-प्रेमी बने तो यही बहुत है और यही सम्भव है। कीट पतंग तथा अन्य क्षुद्र प्राणियों से हम प्रेम कहां तक कर सकते हैं ? जिनसे हमें मतलब है उन्हीं से हमें प्रेम करना चाहिये।

**उत्तर**—राष्ट्र या ऐसे ही किसी क्षेत्र में प्रेम को सीमित करने से अमुक समय के लिये अमुक अंश में लाभ हो सकता है परन्तु अन्त में इस का परिणाम भयंकर होता है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर अत्याचार करने लगता है और इससे ऐसी अशान्ति और दुःख होता है कि उसके चक्कर में सभी राष्ट्र पिसने लगते हैं। इसलिये समान-कोटिके प्राणी में प्रेम की ऐसी सीमा न होना चाहिये। हां अन्याय के प्रतीकार के लिये अमुक समूह का पक्ष लेना पड़े तो इसमें बुराई नहीं है क्यों कि ऐसा पक्ष-ग्रहण मनुष्यता या विश्वप्रेम के अनुकूल ही है। मनुष्य-मात्र में प्रेम को सीमित करना भी ठीक नहीं है क्योंकि मनुष्य से भिन्न प्राणियों में भी मनुष्य के बराबर न सही पर काफी चैतन्य ( सुख-दुःख ) रहता है। बल्कि बहुत से प्राणियों में समझदारी, जान पहिचान, प्रेम, कृतज्ञता आदि गुण पाये जाते हैं जोकि एक तरह से सामाजिकता बनाते हैं। यद्यपि चैतन्य की न्यूनाधिकता से अधिक रक्षा या अल्प-रक्षा का विचार करना पड़ता है, अधिक चैतन्यवाले की रक्षा पहिले करना पड़ती है फिर भी जिसमें जितनी मात्रा है उसके अनुसार ख़याल रखना आवश्यक है। छोटे प्राणी का कम विचार भले ही करो पर विचार अवश्य करो उसे भुलाओ नहीं। इस प्रकार विश्व-प्रेम की सीमा में सब प्राणी आ जाते हैं।

यह बात ध्यान में रखना चाहिये कि प्रेम शरीर या वचन की चीज़ नहीं है, वह मनकी चीज़ है इसलिये अवसर पर मीठा बोल देने से या कुछ शारीरिक शिष्टाचार प्रगट कर देने से प्रेम नहीं आ जाता। मनकी चीज़ मन में हो तभी सफल है। प्रेम को स्वाभाविक हो जाना चाहिये। कृत्रिम प्रेम अपनी कृत्रिमता दिखला ही देता है और उससे प्रतिक्रिया होती है, वैर पहिले की अपेक्षा बढ़ जाता है।

प्रेम जब स्वभाव बन जाता है तब उसकी सीमा नहीं रहती, वह सूर्य के प्रकाश की तरह चारों ओर फैलता है। यह बात दूसरी है कि जिस पदार्थ में जैसी योग्यता होती है वह पदार्थ उस प्रकाश से उतना ही चमकता है। पर वह प्रकाश किसी पदार्थ पर उपेक्षा नहीं करता। स्वाभाविक प्रेम भी इसी तरह सब के सुख-वर्धन का ख़याल रखता है।

स्वाभाविक प्रेम या विश्व-प्रेम में एक बड़ा लाभ यह है कि हम अपने को सदा सर्वत्र सुरक्षित और सहाययुक्त समझते हैं। हर एक प्राणी को इसी जीवन में या नाना जीवनों में अनेक अच्छी बुरी परिस्थितियों में से गुजरना पड़ता है। अगर प्राणियों में स्वाभाविक प्रेम हो तो एक परिस्थिति में वह दूसरों का प्रेम पा सकेगा इसलिये यह विश्व-प्रेम का अद्वैत ही प्राणिसमाज के कल्याण के लिये--सुखवर्धन के लिये सर्वोत्तम औषध है।

**५ दंड**—कल्याण-विरोधी मनोवृत्तियों या उनके कार्यों को बलपूर्वक हटाना दंड है। जिन प्राणियों पर प्रेम का उचित प्रभाव नहीं पड़ता उन्हें दंड देकर व्यवस्थित करना पड़ता है। समाज-व्यवस्था के मूल में दो बातें हैं---एक संयम दूसरा भय। संयम प्रेम का अनुशासन मानता है और भय दंड का। प्रायः प्रत्येक समझदार प्राणी

में न्यूनाधिक रूपमें ये दोनों वृत्तियाँ रहती हैं। जो उत्तम श्रेणी के प्राणी हैं उनमें संयम इतना रहता है कि उसके आगे भय दब जाता है। जो अधम श्रेणी के प्राणी हैं वे भय की ही पर्वाह करते हैं। भय के आगे संयम दब जाता है। मध्यम श्रेणी में दोनों पर्याप्त मात्रा में रहते हैं। उत्तम श्रेणी के लिये दंड की आवश्यकता नहीं होती। मध्यम श्रेणी के लिये दंड-शक्ति की सत्ता या प्रदर्शन ही काफ़ी है पर अधम श्रेणी के लिये दंड का प्रयोग आवश्यक है, पर यह कह सकना कठिन है कि कौन प्राणी कब किस श्रेणीमें रहेगा? साधारणतः उत्तम श्रेणी के मालूम होनेवाले प्राणी परीक्षा के अवसर पर अधम श्रेणी के निकल पड़ते हैं इसलिये व्यवस्था के लिये दंड का रहना अत्यावश्यक है।

**प्रश्न**—दंड-नीति पशुता का चिह्न है उसका समर्थन करना पशुता का समर्थन करना है।

**उत्तर**—निःसन्देह दंड-नीति पशुता का चिह्न हैं पर चिह्न को नष्ट कर देने से पशुता न चली जायगी। बैल का सींग तोड़ देने से बैल आदमी नहीं बन जाता। जब तक हममें पशुता है तब तक तदनुरूप दंड-नीति का होना भी आवश्यक है। हाँ, उसका प्रयोग सँभलकर करना चाहिये और न्याय की हत्या न होने देना चाहिये। साथ ही यह भी देख लेना चाहिये कि यहाँ प्रेम-नीति से काम चल सकता है या नहीं? जब पशुता चली जायगी तब दंड-नीति विधान रूपमें रहने पर भी निरुपयोगी हो जायगी।

**प्रश्न**—अपराध भी एक तरह की मानसिक बीमारी है और बीमार आदमी दया का पात्र है-दंड का नहीं।

**उत्तर**—अवश्य ही उसपर दया करना चाहिये। किस परिस्थिति में उसने अपराध किया? क्या वह दूर की जा सकती है? उस पर प्रेम का क्या प्रभाव पड़ सकता है? आदि बातों का विचार करके जितनी दया की जाय उतनी अच्छी है पर व्यक्ति की दया में समष्टि की दया न भूल जाना चाहिये। रावण को बीमार कहकर दया करने की उदारता दिखाते समय सीताओं के ऊपर दया करना न भूल जाना चाहिये। माना कि शैतान के भीतर भी हृदय है और वह भी पिघल सकता है पर उसके पिघलने की आशा में जीवनभर उसका आततायीपन नहीं सहा जा सकता। पागल कुत्ता जब दूसरों को काटता है और उसके काटने से मनुष्य मर जाता है तो इसमें उस बेचारे कुत्ते का कोई अपराध नहीं, वह तो बीमार है पर इसीलिये उसे पुचकारने की मूर्खता उचित नहीं है। वह काटने आवे तो उसे मार भगाना या मार डालना ही उचित है। वृक्ष के लिये यदि पानी आवश्यक है तो ताप भी आवश्यक है। विश्व-कल्याण के लिये प्रेम-जल के साथ दंड-ताप भी अवश्य चाहिये।

**प्रश्न**—दंड सुधार के लिये होना चाहिये पर जब किसी मनुष्य को मृत्युदंड दे दिया जाय तो उसका सुधार क्या होगा?

**उत्तर**—मृत्युदंड का भय आजतक उसे उतने बड़े अपराध से रोके रहा और दूसरे सैकड़ो हजारों आदमियों को रोके हुए है यही समाज-सुधारमें उसकी उपयोगिता है। कभी कभी ऐसे अवसर आते है जब शरीर के अमुक भाग को [ मवाद आदि को ] शरीर से बाहर निकाल कर फेंक देना पड़ता है उसी प्रकार समाज से भी बड़े बड़े आततायियों को फेंक देना पड़ता

है। स्त्रियों के ऊपर बलात्कार करके उनके प्राण लेने वाले, मतभेद के कारण साधु पुरुषों का खून करनेवाले, अपनी ऐयाशी के लिये दूसरों का घर या देश लूटने मे बाधक होने से प्राण लेनेवाले मृत्युदण्ड के पात्र है चाहे वे डाकू कहलाते हों गुंडा कहलाते हों या राजा कहलाते हों।

पर किसी भी तरह का दंड क्यों न हो हमारे मनमें समाजरक्षा या न्यायरक्षा का ध्यान रहना चाहिये। अपराधी से द्वेष न हो तो सिर्फ़ अपराध को नष्ट करने मे अगर अपराधी नष्ट हो रहा है तो इसे अपनी विवशता समझना चाहिये। अगर प्रेम-नीति से काम चल सकता हो तो दंड-नीति का उपयोग न करना चाहिये।

स्वात्मद्वार से आने वाले दुःखों को दूर करने के लिये कर्मयोगी मनोवृत्ति सर्वोत्तम उपाय है। साधु-जीवन व्यतीत करना अर्थात् दूसरों से कम से कम से लेकर अधिक से अधिक देने की इच्छा करना और जीवन को एक नाटक समझ कर भीतर से निर्लिप्त रहना, इन दो बातों से कर्मयोगी जीवन बन जाता है और सब कर्तव्य करते हुए भी क्रोध अहंकार छल लोभ ईर्ष्या आलस्य आदि दुर्वृत्तियाँ ज़ोर नहीं पकड़ने पाती।

इस विषय का विशेष वर्णन जीवन-दृष्टि अध्याय मे किया जायगा।

इस प्रकार तीन द्वारों से आनेवाले सब प्रकार के दुःख दूर हो जाते हैं। रही सुखोपार्जन की बात, सो पहिले जो छः प्रकार के आनन्द बतलाये गये है उनमे से रौद्रानन्द का तो सदा त्याग ही करना चाहिये। प्रेमानन्द सदा हित-कारी है। परमपुरुषार्थ मोक्ष भी इस आनन्द में है। फिर भी इसमे एक बात का ख्याल रखना चाहिये कि इसके साथ कहीं मोहान्धता न आ जाय। मोहान्ध व्यक्ति विवेक-भ्रष्ट होकर कल्याण-मार्ग से विचलित हो जाता है इससे वह स्वयं दुःख उठाता है और दूसरों को भी दुःख देने लगता है। इसलिये प्रेमानन्द में मोहान्धता से बचे रहने का सदा प्रयत्न होते रहना चाहिये।

जीवनानन्द भी निर्दोष और उपादेय है परन्तु इसमे इस बात का ख़याल रखना चाहिये कि यह अन्याय्य न हो जाय, अपने जीवनानन्द के लिये दूसरों के उचित जीवनानन्द का नाश न हो जाय। स्वास्थ्य का भी ख्याल रखना चाहिये जीवनानंद यदि स्वास्थ्य-नाशक हो जाय तो वह जीवनानंद ही न रहेगा।

विषयानंद निर्दोष हो सकता है पर बहुत जल्दी विकृत या सदोष होने की पूरी सम्भावना है। इसके लिये विषयानंद में तीन बातों का अवश्य ख़याल रखना चाहिये। १ निर्व्यसनता २ परिमितता ३ न्याय्यता।

विषय का आनन्द लो पर उसे व्यसन या आदत मत बनाओ कि उसके बिना जी तड़पता रहे। इससे बेचैनी तो होती ही है साथ ही मात्रा भी नहीं रहती, न्याय-अन्याय का विचार भी नहीं रहता इसलिये निर्व्यसनता आवश्यक है।

विषय मात्रा से अधिक होने पर शक्ति क्षीण करने लगते है और न्याय-अन्याय का विचार भी नष्ट कर देते है इसलिये परिमितता आवश्यक है।

विषय-सेवन इस प्रकार मत करो कि उससे दूसरों के साथ अन्याय होने लगे नहीं तो विश्व-सुख-वर्धन मे बाधा पड़ेगी तथा अन्त में अन्याय का फल अपने को भी भोगना पड़ेगा। इसलिये न्याय्यता आवश्यक है।

महत्त्वानन्द की आकांक्षा हरएक को होती है। पर यह याद रखना चाहिये कि महत्त्व अन्याय्य विश्व-दुःख-वर्धक या सुख-नाशक न हो। सभी तरह के महत्त्व समग्र उपादेय नहीं हैं। विषय भेद से महत्त्व चौदह हैं। १—अधिकार, २ विभव, ३ संघ, ४ कुल, ५ यश, ६ तप, ७ कला, ८ शक्ति, ९ ज्ञान, १० सौंदर्य ११ असाधारणता, १२ दान, १३ त्याग, १४ सेवा।

१—**अधिकार**, समाज के द्वारा दी हुई या स्वीकृत की हुई निग्रह—अनुग्रह शक्ति है। इस की प्राप्ति सेवाके लिये करना चाहिये, अहंकार के लिये नहीं, और उसका उपयोग सुव्यवस्था के लिये करना चाहिये अपना अधिकारीपन बताने के लिये नहीं।

२—जीवन के लिये उपयोगी अपने अधिकार की सामग्री का नाम **विभव** है। इसका अतिसंग्रह न करना चाहिये। विभव का महत्त्व जगत में जितना कम होगा, सुख शान्ति उतनी ही अधिक होगी।

३—अपने समर्थक सहायक या समूह का नाम **संघ** है। मेरे इतने अनुयायी हैं इतने मित्र रिश्तेदार या कुटुंबी हैं, अमुक राजा, नेता, पदाधिकारी, श्रीमान या विद्वान से मेरी दोस्ती या परिचय है, मेरे इतने नौकर हैं आदि सब संघ का महत्त्व है। साधारणतः इस महत्त्व का आनंद कुछ बुरा नहीं है सिर्फ़ इसके दुरुपयोग से बचना चाहिये।

४—जन्म से सम्बन्ध रखने वाले परिवार का नाम **कुल** है। मैं अमुक कुटुम्ब में पैदा हुआ हूं, मेरे बाप माँ मामा चाचा आदि इतने महान हैं, मेरी जाति मेरा गोत्र इतना महान है आदि कुल का महत्त्व है। अथवा मैं महाराष्ट्री, बंगाली, गुजराती, पंजाबी आदि हूं या मैं अंग्रेज अमेरिकन जापानी या भारतीय हूं आदि प्रान्त या राष्ट्र का महत्त्व भी कुल का महत्त्व है। यह महत्त्व अच्छा महत्त्व नहीं है इसका उपयोग न करना चाहिये। अगर कभी करना हो तो बुराई से बचने के लिये ही करना चाहिये। 'मैं अमुक का बेटा हूं, अमुक प्रान्त या राष्ट्र का हूं फिर क्यों ऐसा पतित काम करूँ इस प्रकार पाप से बचने के लिये इसका उपयोग उचित है पर अहंकार आदि के लिये कुल का महत्त्व न बताना चाहिये।

५—लोगों के हृदय मे अपने विषय में जो आदरभाव है वह **यश** है। यश का आनन्द बुरा नहीं है पर यश-प्राप्ति की कला और उस के लिये आवश्यक संयम कठिन है। मलिन और क्षणिक यश—चार दिन की वाहवाही—की बात दूसरी है पर निर्मल और स्थायी यश इन चार बातों पर निर्भर है। [ १ ] असाधारण योग्यता [ २ ] उसका समाज-हित में उपयोग [ ३ ] उस उपयोग के लिये किया गया त्याग [ ४ ] यशो-लाभ की गौणता। यश मोर के समान है जो बंदर की तरह गले में रस्सी बाँध कर नचाया नहीं जा सकता। वह वर्षा देखकर आप ही तांडव करता है। जो लोग यश के लिये ही कोई काम करते है उन्हें सच्चा यश नहीं मिल सकता। इस लिये यश को गौण रखना आवश्यक है। अपने नाम का प्रदर्शन कभी इस तरह न होना चाहिये जिससे यह मालूम हो कि यह प्रदर्शन के लिये अर्थात् यश के लिये हो रहा है। इस बात का सदा ख़याल रहे कि हमारा काम सेवा या समाज-सुख के लिये हो। उस की ओट में अगर नाम का प्रदर्शन हो जाय तो भले ही हो जाय। आत्म

श्लाघा न होने पावे। इस विषय का शिष्टाचार भी कुछ होता है उसका भी खयाल रखना चाहिये।

६–स्वपर-कल्याण के लिये विशेष साधना का नाम **तप** है। तपसे भी महत्व बढ़ता है और उससे आनन्द मिलता है। यह आदर सत्कार आदि के ध्येय से न होना चाहिये। विश्वकल्याण के ध्येय से होना चाहिये।

७–मन और इन्द्रियों के विषयों को आकर्षक ढंग से बनाना **कला** है, थोड़े खर्च मे अधिक आकर्षकता लाना इस की कसौटी है। कलाके द्वारा अच्छी अच्छी कल्याणकर चीजें लोगों के पास पहुँचाई जा सकतीं है। इस प्रकार यह जन-सेवा में बहुत उपयोगी हो सकती है। पर विषयानन्द को मात्राधिक करने मे इस का बहुत उपयोग होता है इससे बचना और बचाना चाहिये। अपनी कला का उपयोग विषयान्धता बढ़ाने के लिये कभी न करना चाहिये। इस संयम के साथ कलावान होने का महत्त्व मिले तो उसका आनन्द लेना चाहिये।

८—जिस योग्यता के द्वारा हम इच्छानुसार विशेष परिवर्तन कर सकें या परिवर्तन को रोक सकें वह **शक्ति** है। शक्ति शरीर की भी होती है मन की भी होती है और वचन की भी होती हैं। इसका महत्त्व भी अच्छा है पर उस की सच्ची कसौटी अच्छा बुरा उपयोग है।

९ शास्त्र, विचार, या अनुभव से पाये हुए ज्ञान का नाम **विद्या** है और समझने या विचार करने की शक्ति का नाम **बुद्धि** है, ये दोनों ही ज्ञान हैं। इनका महत्त्व बुरा नही है। हां, मद न होना चाहिये।

१० शरीर की आकर्षक रचना का नाम **सौंदर्य** है। सौन्दर्य यहां उपलक्षण है। शरीर की गन्ध, स्पर्श आदि की आकर्षकता भी यहां लेना चाहिये। इसका घमंड भी न करना चाहिये। यह विद्या बुद्धि आदि से कम स्थायी है। इससे विषयानन्द की मात्रा में भी अतिरूप होने की सम्भावना है इसलिये सतर्क रहना चाहिये। हां, विनय और संयम का खयाल रखते हुए इसका आनन्द बुरा नहीं है। स्वच्छता, सौन्दर्य की सहायक या अंग है उसे अपनाना चाहिये।

११ आवश्यकता, अनावश्यकता उचित अनुचित का विचार न करते हुए किसी भी तरह की अद्भुतता का नाम **असाधारणता** है। विद्या बुद्धि, सौन्दर्य आदि का महत्त्व उनकी उपयोगिता के पीछे है पर इस असाधारणता मे उपयोगिता का विचार ही नहीं है। किसी ने अपने नाखून खूब बढ़ा लिये, किसी ने अपनी मूँछें खूब बढ़ालीं, कोई ऊँचाई में असाधारण है, कोई निचाई मे; इन सब असाधारणताओं में लोग महत्त्व का अनुभव करके प्रसन्न होते हैं। एक तरह से यह व्यर्थ है।

सिर के बाल लम्बे होने से सौन्दर्य बढ़ता हो, शरीर लम्बा होने से शक्ति बढ़ती हो तो यह असाधारणता का महत्त्व न कहलायगा, सौन्दर्य और शक्ति का महत्त्व कहलायगा। असाधारणता तो सिर्फ़ वहीं समझना चाहिये जहाँ अन्य किस दृष्टि से उपयोगिता न हो उससे सिर्फ़ अद्भुतत ही प्रगट होती हो।

१२ परोपकार के लिये अपने प्राप्त विभव व खर्च करना या देना **दान** है।

१३—स्वपर-कल्याण के लिये प्राप्त या अप्रा विभव और सुविधाओं का छोड़ना **त्याग** है।

दान की अपेक्षा त्याग व्यापक और श्रेष्ठ है दान भी एक तरह का त्याग ही है फिर भी दोनें

में मात्रा का अन्तर है । ( १ ) दान में अपनी आवश्यक सुविधाएँ बहुत अंशों में सुरक्षित रहतीं हैं और त्याग में आवश्यक सुविधाएँ बहुत अंशों में छोड़ना पड़तीं हैं । ( २ ) दानी के लिये अर्थोपार्जन के द्वार बहुत अंशों में खुले रहते हैं जब कि त्यागी के अर्थोपार्जन के द्वार बहुत अंशों में बन्द हो जाते हैं । ( ३ ) दानी संग्रह-शील भी हो सकता है और अति-संग्रह भी कर सकता है पर त्यागी अति-संग्रह नहीं कर सकता और संग्रह--शीलता उसकी आवश्यक और सीमित रहती है । इन कारणों से दानी से त्यागी भिन्न और श्रेष्ठ है ।

१४ परोपकार के लिये अपनी योग्यता का उपयोग करना सेवा है ।

इन तीनों बातों का महत्वानन्द अधिक से अधिक प्राप्त करना चाहिये । इनमें से बहुत सी बातों का विशेष विवेचन तो आगे किया जायगा । यहाँ इतनी बात कहना आवश्यक है कि अहंकार किसी भी महत्त्व का न करना चाहिये । और उपर्युक्त सूचनाओं के अनुसार ही महत्त्वानन्द लेना चाहिये ।

मोक्षानन्द एक श्रेष्ठ आनन्द है । इसका श्रेष्ठ रूप है-दुर्व्यसनों, कुरूढ़ियों और दुर्वासनाओं से छूट जाना । परन्तु और भी अनेक तरह की परतन्त्रताएँ जीवन में सिर पर पड़ जातीं हैं उनके जालको तोड़ने का सदा उद्योग करना चाहिये । पर कुछ बन्धन ऐसे भी होते हैं जो स्वपर-कल्याण के लिये आवश्यक हैं । जैसे-नीति, भक्ति और प्रेम का बन्धन । ये बन्धन जीवन के सौन्दर्य और स्वास्थ्य के लिये आवश्यक हैं ।

इस प्रकार दुःख दूर करने और सुख पाने के मार्ग पर दृष्टि डालकर आगे बढ़ना चाहिये । दुःख दूर करने और सुख पाने का मार्ग बताने के लिये तो यह सारा ग्रंथ ही है । इस अध्याय में तो मार्ग पर दृष्टि डालने के लिये सुख-दुःख के विषय में विविध विचार किया गया है । इस मार्ग-दृष्टि से सुखी होने के कार्य का विचार करने में काफ़ी मदद मिलेगी ।



# दृष्टिकांड, चौथा अध्याय (योगदृष्टि)

## (चार योग)

योग का अर्थ है समाधि या तल्लीनता। दृष्टि-प्राप्त मनुष्य मार्ग देखकर उस मे तल्लीन हो जाता है अर्थात् उस में वह एक तरह से सारी शक्ति लगा देता है। कल्याण के मार्ग में इस प्रकार तल्लीन हो जाने का नाम है योग।

ऐसा योगी अपने विषय में ऐहिक फलाफल या सुखदुःख की विशेष चिन्ता नहीं करता। उसका जीवन मोक्ष-सुख-प्रधान होता जाता है। काम-सुख गौण हो जाता है।

योग दो तरह का है-**ध्यान-योग** और **कर्मयोग**। जिस योग में समाज का संघर्ष कम हो, जीवन मे एक तरह की एकान्तता आ जाय, समाज-सेवा गौण हो और निष्पाप आत्म-संतोष मुख्य हो इस प्रकार **कर्महीन एकाग्रता का नाम ध्यान-योग है**। जिस मे समाज-सेवा मुख्य हो ऐसी **निष्पाप क्रिया-शीलता का नाम कर्मयोग है**। जनता के लिये आदर्श तो कर्मयोग है परन्तु परिस्थिति विशेष मे व्यक्ति-विशेष को ध्यान योग की आवश्यकता हो सकती है। ऐसे समय में ध्यान-योग भी उचित है।

दुःख-हानि और सुख-प्राप्ति के लिये मनुष्य उक्त चार चीज़ों में से किसी एक का मुख्य रूप में सहारा लेता है। चारो मे कोई परस्पर विरोध नहीं है। एक ही मनुष्य में चारों बातें पाई जा सकती है परन्तु जिस में जिस बात की मुख्यता है उस का योग उसी नाम से पुकारा जाता है। भक्त मनुष्य दुनिया के झगड़ों से निवृत्त होकर संन्यासी भी हो सकता है, विद्या-व्यसनी भी हो सकता है और अपने जीवन के दायित्व को पूरा करने वाला भी हो सकता है, परन्तु यदि उसके जीवन में प्रधानता भक्ति की हो तो वह भक्ति-योगी कहलायगा। इसी प्रकार अन्य योगियों की भी बात है। योग कोई भी हो उसके दो कार्य मुख्य है, निष्पाप जीवन और कष्ट-सहिष्णुता। निष्पाप जीवन मे दुःखो की उत्पत्ति रुक जाती है और कष्टसहिष्णुता मे दुःख असर नहीं कर पाते। इन दोनों बातो से कल्याण के साथ मनुष्य का संबंध अथवा योग हो जाता है।

## भक्ति योग

भक्ति का मूल रूप भज् है जिस का अर्थ है सेवा करना। पर चिरकाल से भक्ति शब्द अपने मूल अर्थ से कुछ संकुचित हो गया है। अब तो इस का अर्थ रह गया है अपने से महान की पूजा प्रार्थना सेवा आदि। किसी आदर्श या आदर्श व्यक्ति की शरण ले लेने से प्राणी अपने को सुरक्षित समझने लगता है। अनाथता से घबराये हुए प्राणी को सनाथता का अनुभव होता है। इसलिये जो जो कष्ट उस पर आते हैं उनको वह अपने इष्ट देव गुरु के भरोसे सह जाता है।

यह तो हुई दुःख-सहिष्णुता। निष्पापता के लिये इष्ट देव गुरु का आदर्श और उसकी आज्ञा का पालन सहायक होता है। इस प्रकार भक्तियोगी निष्पाप जीवन और कष्ट-सहिष्णुता के सहारे अपना कल्याण कर लेता है।

भक्ति भय से भी होती है पर भक्तियोगी की भक्ति भय से नहीं होती। इसलिये साधारण भक्त बनने और भक्तियोगी बनने में अन्तर है।

भक्ति तीन तरह की है—१ ज्ञान-भक्ति २ स्वार्थ-भक्ति ३ अन्ध-भक्ति।

**ज्ञानभक्ति**—ज्ञान-भक्ति में गुणानुराग की मुख्यता होती है, स्वार्थ की नहीं। जो जीवन का आदर्श प्रभु, अथवा कल्याण-पथ में अपने से आगे माना गया हो उसकी गुणानुराग की मुख्यता से या आत्म-समर्पण की दृष्टि से जो भक्ति की जाती है वह ज्ञान-भक्ति है।

ज्ञान-भक्ति में भी स्वार्थ हो सकता है पर इतनी मात्रा में नहीं कि दूसरों के उचित अधिकार नष्ट कर दे।

**प्रश्न**—ज्ञान-भक्ति में भी जब आत्मसमर्पण है तब वह भी अन्ध-भक्ति हो गई। क्योंकि जहां पर आत्मसमर्पण है वहां अपनी विचार-शक्ति गौण हो जाती है। विचार-शक्ति का गौण होना ही अन्धता है।

**उत्तर**—जीवन में बड़े से बड़े ज्ञानी को भी किसी न किसी क्षेत्र में प्रायः आत्मसमर्पण करना ही पड़ता है। आत्मसमर्पण ज्ञान से भी होता है और अन्धता से भी होता है। जब हम अनेक अनुभवों से यह जान लेते हैं कि अमुक वैद्य सुयोग्य और ईमानदार है तब बीमारी में उस वैद्य को आत्म-समर्पण कर देना अन्धता का फल न कहलायगा क्योंकि यहां पर वैद्य की विश्वसनीयता जाँच ली गई है और समय समय पर रोग की अवस्था जान कर उसका फलाफल भी जाँच लिया जाता है। इसी प्रकार धर्म, गुरु आदि के विषय में भी है। अगर कोई ऐसा गुरु मिल जाय जो अपनी अपेक्षा अधिक ज्ञानी-अनुभवी और वीतराग हो, जिसकी आज्ञाएँ सत्पथ पर ले जानेवाली हों तो उसकी यथाशक्ति जाँच कर लेने के बाद उसे आत्मसमर्पण कर देना ज्ञानभक्ति ही है। अन्ध-भक्ति वहां होगी जहां सिर्फ वेष देख कर या परम्परा देख कर आत्मसमर्पण किया जाय या श्रद्धा रक्खी जाय। भक्तियोगी इस प्रकार अन्ध-समर्पण नहीं करता वह ज्ञान-समर्पण करता है।

**स्वार्थ-भक्ति**—जिस भक्ति की उत्पत्ति और स्थिति का कारण वैयक्तिक स्वार्थ है उसे स्वार्थ-भक्ति कहते हैं। नौकरों और मजदूरों के मनमें जो मालिक की भक्ति होती है वह स्वार्थभक्ति है। जहां पर व्यक्ति की योग्यता और कृति का विचार मुख्य न हो किन्तु अपना स्वार्थ मुख्य हो वहाँ स्वार्थ-भक्ति समझना चाहिये।

**प्रश्न**—विद्यार्थी के द्वारा अध्यापक की भक्ति स्वार्थ-भक्ति है या ज्ञान भक्ति?

**उत्तर**—गुण-परीक्षण और गुणानुराग हो तो ज्ञानभक्ति है। यदि यह दृष्टि हो कि अध्यापक मुफ्त में पढ़ा देते हैं या कम फीस लेते हैं मेरे अपराधों पर ध्यान नहीं देते आदि, तो यह स्वार्थ-भक्ति कहलायगी।

**प्रश्न**—भक्तिमात्र स्वार्थ मूलक है। मनुष्य यों ही किसी की भक्ति नहीं करता, कुछ मतलब निकलता है तभी भक्ति करता है। ईश्वर की भी भक्ति हम इसलिये करते हैं कि उसकी दया से

हमारा कोई न कोई स्वार्थ निकलता है। दानी परोपकारी तथा समाज-सेवकों, साधुओं की भी भक्ति इसीलिये की जाती है कि उनसे हमारा कोई न कोई स्वार्थ सिद्ध होता है। संकट से हमारा कोई उद्धार करे और हम उसकी भक्ति करें तो ऐसे उद्धारक की भक्ति को स्वार्थ-भक्ति क्यों कहना चाहिये? यह तो ज्ञानभक्ति है।

**उत्तर**--स्वार्थ रहने पर भी ज्ञानभक्ति हो सकती है। उपर्युक्त अवसरों पर स्वार्थ-भक्ति भी हो सकती है और ज्ञानभक्ति भी। संकट में से किसी ने हमारा उद्धार किया। इससे हमारे मनमें यह विचार आया कि यह आदमी बहुत परोपकारी है। इसने बिना किसी स्वार्थ या जानपहिचान के मेरा उद्धार किया, यह पूज्य है। इस प्रकार परोपकारी मानकर अगर हम भक्ति करेंगे तो वह भक्ति स्थिर होगी और कोई अनर्थ पैदा न करेगी। अब कल्पना करो वह उद्धारक आदमी हमारा निरीक्षक या न्यायाधीश बना और उसने हमारे अपराध का उचित दंड दिया तो उससे दंड पाकर भी हम उसकी भक्ति रख सकेंगे। भक्तिनाश का भय न्याय करने में बाधक न होगा। अगर स्वार्थ-भक्ति होगी तो भक्ति थोड़े से भी अप्रिय प्रसंग से नष्ट हो जायगी। वह न्याय अन्याय की पर्वाह न करेगी। आज स्वार्थ सिद्ध हुआ भले ही वह अन्याय हो-तो भक्ति हो गई, कल स्वार्थ-सिद्ध न हुआ-भले ही यह कार्य न्यायोचित हो-तो भक्ति नष्ट हो गई ऐसी भक्ति स्वार्थ-भक्ति है। स्वार्थ-भक्ति में पात्रा-पात्र का विचार नहीं रहता सिर्फ़ अपने स्वार्थका विचार रहता है। ज्ञानभक्ति ऐसी चचल नहीं होती न उससे अन्याय को उत्तेजन मिलता है। ज्ञानभक्ति उस व्यक्ति की होगी जिसने हमारा भले ही उपकार न किया हो पर जगत का उपकार किया हो। स्वार्थ-भक्ति ऐसे पात्र की उपेक्षा करेगी।

ईश्वर या देवी देवताओं की भक्ति ज्ञानभक्ति भी हो सकती है और अन्धभक्ति भी हो सकती है। ईश्वर को आदर्श मानकर उस आदर्श की ओर बढ़ने के लिये भक्ति की जाय, उसे नियंता मानकर पाप से बचने के लिये भक्ति की जाय, उसे हितोपदेष्टा मानकर उसकी आज्ञा का पालन करके पवित्र जीवन बनाने के लिये भक्ति की जाय, अपने मनको पापों--प्रलोभनो--विपत्तियों से हटाने के लिये आत्म-समर्पण के लिये भक्ति की जाय तो ज्ञानभक्ति है। दिनरात पाप करके उस पर माफ़ी की मुहर लगवाने के लिये भक्ति की जाय तो स्वार्थ-भक्ति है। बिना समझे रूढ़ि या संस्कारवश भक्ति की जाय तो अन्ध-भक्ति है।

**प्रश्न**-जैसे स्वार्थ से भक्ति होती है उसी प्रकार भय से भी होती है। साधारण जनता बड़े बड़े अफ़सरों की जो भक्ति करती है वह इसलिये नहीं कि अफ़सरों से वह किसी भलाई की आशा करती है किन्तु इसलिये कि नाराज़ होकर कुछ बुराई न कर दे। इस प्रकार धर्म के नाम पर भी शनैश्चर आदि की पूजा की जाती है यह सब भयभक्ति है। भय-भक्ति भी स्वार्थभक्ति के समान एक अलग भक्ति है।

**उत्तर**-भय-भक्ति भी स्वार्थ-भक्ति है। स्वार्थ-वासना दो तरह की होती है एक **आशा पूरक** दूसरी **ध्वंस-रोधक**। आशा पूरक में कुछ पाने की इच्छा रहती है और ध्वंस-रोधक मे नाश न होने की चिन्ता रहती है। भय-भक्तिमें यही ध्वंस-रोधक स्वार्थ-वासना होने से भय-भक्ति भी स्वार्थ-भक्ति है।

**प्रश्न**—भय-भक्ति या स्वार्थ-भक्ति को भक्ति क्यों कहना चाहिये? यह तो एक तरह का छल

कपट या मायाचार है। अच्छे शब्द में इसे शिष्टाचार भी कह सकते हैं पर यह भक्ति तो नहीं है।

**उत्तर**—स्वार्थ-भक्ति, शिष्टाचार और चापलूसी के बहुत पास है फिर भी उसमें अन्तर है। जहाँ भक्ति है वहाँ मन तक विनय का प्रवेश है, शिष्टाचार और चापलूसी मन की पर्वाह नहीं करते। बल्कि इनमें वंचना भी हो सकती है। स्वार्थ-भक्ति या भय-भक्ति में यह बात नहीं है। उस में मन रँग जाता है। एक ईमानदार नौकर अपने गुणहीन मालिक का भी भक्त बन जाता है। स्वार्थ से उसके मन पर मालिक की महत्ता की छाप बैठ जाती है। और उसमें अनुराग की मात्रा भी पैदा हो जाती है। **जहाँ मन पर महत्ता की छाप हो और प्रेम हो वहाँ भक्ति समझना चाहिये। जहाँ ये दोनों या दो में से कोई एक न हो वहाँ सिर्फ शिष्टाचार रह सकेगा भक्ति नहीं।**

**अन्धभक्ति**—परम्परा की रूढ़ि के कारण या और किसी तरह के अज्ञान के कारण जो विचारहीन भक्ति होती है वह अन्ध-भक्ति है इस भक्ति में विवेक नहीं होता। और दृढ़ता मात्रा से अधिक होती है। अन्ध-भक्त युक्ति और अनुभव की पर्वाह नहीं करता।

**प्रश्न**—कभी कभी ज्ञान-भक्त भी दुनिया के बकवाद की पर्वाह नहीं करता तब क्या उसे भी अन्धभक्त कहना चाहिये।

**उत्तर**—अन्ध-भक्त और ज्ञान-भक्त की लापर्वाही में अन्तर है। अन्ध-भक्त बिना विचारे लापर्वाही करता है पर ज्ञान-भक्त अनेक बार के विचार के बाद लापर्वाही करता है। ज्ञान-भक्त जब युक्ति अनुभव से गम्भीर विचार कर लेता है और उसका विचार जब श्रद्धा का रूप धारण कर लेता है तब यदि कोई अपनी दुहाई देकर अथवा युक्तिशून्य या अनुभवशून्य बातें कह कर उसके विश्वास को डिगाना चाहता है तब ज्ञान-भक्त उसकी पर्वाह नहीं करता है। अथवा एक दो बार विचार करता है किन्तु जब वे या वैसे ही विचार उसके सामने आते हैं तब वह लापर्वाही करने लगता है। इस लापर्वाही के मूल में अन्धता या अज्ञान नहीं, किन्तु ज्ञान की विशालता है। इसलिये अन्ध-भक्त की लापर्वाही और ज्ञान-भक्त की लापर्वाही में बड़ा अन्तर है।

भक्ति-योगी न तो अन्ध-भक्त होता है न स्वार्थ-भक्त, वह ज्ञान-भक्त होता है।

**प्रश्न**—भक्ति-योगी ज्ञान-भक्त भले ही रहे परन्तु भक्ति से किसी को योगी मानना क्या उचित है? भक्ति तो एक तरह का मोह है। मोही को योगी कहना कहाँ तक ठीक है?

**उत्तर**—जिसने मोक्ष-पुरुषार्थ पालिया वह योगी है। मोक्ष का अर्थ मनोविकारों से यथासम्भव छूट जाना है, ज्ञानभक्ति जहां होती है वहाँ पूर्ण आत्म-समर्पण होने से अहंकार नष्ट हो जाता है, जोकि पापों की जड़ है। पूरा भक्त अपने इष्ट के ध्यान मे इतना लीन हो जाता है कि दुनिया की चोटें उसके दिल पर घाव नहीं कर पातीं, दुर्वासनाएँ दब जाती हैं, यही मोक्ष है और मोक्ष प्राप्त होने से वह योगी है। ज्ञानभक्ति मोह नहीं अन्धभक्ति मोह है। ज्ञानभक्ति में विवेक जगता रहता है। जहाँ विवेक है वहाँ मोह कहाँ?

## संन्यास-योग

वृद्धता आदि शारीरिक अशक्ति अथवा मानसिक थकावट या समाज-सेवा के कार्य में अपनी विशेष उपयोगिता न रहने के

नहीं होता। कुछ शारीरिक असुविधाएँ ही उसे उठाना पड़तीं है पर समाज की दृष्टि में वे भी उसके लिये भूषण होतीं हैं। लेकिन गृहस्थ को यह सुविधा नहीं होती। गृहस्थ-योगी को योगी की सारी जिम्मेदारियाँ तो उठाना ही पड़ती हैं साथ ही समाज के द्वारा अयोगी को मिलने वाली जितनी विपत्तियाँ है वे सब भी सहना पड़तीं हैं इसलिये संन्यासी की अपेक्षा गृहस्थ को योगी बनने में अधिक कठिनाई है। फिर संन्यासी समाज के लिये कुछ न कुछ बोझल होता है इसलिये भी सब के अनुकरणीय नहीं है। अगर गृहस्थ-रूप में सारा जगत कर्मयोगी हो जाय तो जगत स्वर्गकी कल्पना से भी अच्छा बन जाय परन्तु अगर सब संन्यासी हो जाँयँ तो जगत तीन दिन भी न चले इसलिये संन्यासी समाज के लिये अनुकरणीय भी नहीं है। संन्यासी की सेवाएँ इकरंगी होतीं है जब कि गृहस्थ की सेवाएँ नाना तरह की होतीं है इसलिये कर्मयोग का व्यापक और उच्च रूप गृहस्थ में दिखाई देता है, संन्यास में नहीं।

आदर्श कर्मयोगी गृहस्थ होगा संन्यासी नहीं। इन सब कारणों से कर्मयोगियों की नाम-माला में गृहस्थ योगी ही मुख्य--रूप मे बताये जाते हैं। ख़ैर, प्रसिद्धि, व्यापकता आदि की दृष्टि से किसी का भी नाम लिया जाय परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि संन्यासी, कर्मयोगी नहीं होते हैं। कभी कभी असाधारण जनसेवा के लिये संन्यास लेना अनिवार्य हो जाता है उस समय संन्यासी-कर्मयोगी बनना ही उचित है। जैसे म. महावीर, म. बुद्ध म., ईसा आदि बने थे।

## सारस्वत-योग

सरस्वती की उपासना में लीन होकर आत्म-संतोष की मुख्यता से निष्पाप जीवन बनाना सारस्वत--योग है। यह भी भक्ति की तरह ध्यान-योग है क्योंकि इसमें कर्म की प्रधानता नहीं है। पुस्तकें पढ़ने में तथा अनेक तरह के अनुभव एकत्रित करने में जो सेवा-हीन शान्तिमय निष्पाप जीवन बिताते हैं वे सारस्वत योगी है।

**प्रश्न**--सरस्वती की उपासना तो एक प्रकार की भक्ति कहलाई इसलिये इसे भक्तियोग ही क्यो न कहा जाय ?

**उत्तर**--सरस्वती की मूर्ति चित्र या कोई स्मारक रख कर अथवा बिना किसी स्मारक के सरस्वती का गुणगान किया जाय तो वह भक्ति-योग कहा जा सकेगा परन्तु सारस्वत-योग का यह मतलब नहीं है। वहां सरस्वती की उपासना का मतलब है ज्ञान का उपार्जन करना और ज्ञान-प्राप्ति मे ही आनन्दित रहना। इस प्रकार पवित्र जीवन बिताने वाला विद्या-व्यसनी सारस्वत योगी है।

**प्रश्न**--विद्योपार्जन करना ग्रंथ-निर्माण करना कविता वगैरह बनाना भी एक बड़ी समाज-सेवा है इसलिये विद्याव्यसनी को कर्मयोगी कहना चाहिये। सारस्वत-योग एक तरह का कर्म-योग ही है।

**उत्तर**--सरस्वती की उपासना अगर जगत की सेवा के लिये है तब तो वह कर्मयोग ही है अगर वह निवृत्तिमय जीवन बिताने का एक तरीका ही है तो वह कर्मयोग नहीं है इसलिये उसे अलग नाम देना उचित है।

**प्रश्न**–विद्याव्यसन के समान और भी निर्दोष व्यसन हैं इसलिये उनका अवलम्बन लेकर योग साधन करने वाले योगियों का भी अलग उल्लेख होना चाहिये। एक आदमी प्राचीन स्थानों के दर्शनों में पवित्र जीवन बिताता है कोई पुरानी खोज में लगा रहता है इन को किस में शामिल किया जायगा ?

**उत्तर**—देशाटन यदि जनसेवा के लिये है तो कर्मयोग है, अगर सिर्फ नये नये अनुभवों का आनन्द लेने को है तो सारस्वत योग है। प्राचीन चीज़ों की खोज जनहित के लिये है तो कर्म-योग है सिर्फ आत्म-संतुष्टि के लिये है तो सारस्वत-योग है। कविता आदि के विषय में भी यही बात समझना चाहिये।

**प्रश्न**—सारस्वत योग को संन्यास-योग क्यों न कहा जाय ? दुनियादारी को भूलकर अध्ययन आदि में ही लीन हो जाना एक तरह का संन्यास ही है।

**उत्तर**—एक तरह का संन्यास तो भक्ति-योग भी है। सभी ध्यान योग एक तरह के संन्यास हैं फिर भी ध्यान योग के जो तीन भेद किये गये हैं वे ऐसे निमित्तों के भेद से किये गये हैं जो कि पवित्र और निर्द्वंद्व जीवन में सहायक हैं। भक्ति और तप के समान विद्या भी निर्दोष जीवन में सहायक है इसलिये उसका अलग योग बतलाया गया।

**प्रश्न**—ध्यान-योग में काम-योग क्यों नहीं माना गया ?

**उत्तर**—योग के साथ कोई नाम तभी लगाया जा सकता है जब वह जीवन-चर्या का प्रधान अंग बन जाय काम यदि जीवनचर्या का प्रधान अंग बन जाय तो जीवन इतना पवित्र न रह जायगा कि उसे योगी जीवन कहा जा सके।

**प्रश्न**–काम भी तो एक पुरुषार्थ है अगर वह जीवन चर्या का मुख्य अंग बन जाय तो पवित्रता क्यों नष्ट हो जायगी ?

**उत्तर**—काम, मोक्ष की तरह अपने में पूर्ण नहीं है उसका असर दूसरों पर अधिक पड़ता है। बल्कि अधिकांशतः अपना काम दूसरों के काम में बाधक हो जाता है ऐसी हालत में काम-प्रधान जीवन पर-विघातक हुए बिना नहीं रह सकता। काम को पवित्र जीवन में स्थान है पर धर्म अर्थ और मोक्ष के साथ अकेला काम-हिंसक और पापमय हो जायगा। इसलिये काम-योग नाम का भेद नहीं बनाया जा सकता। योगी के पास काम रहता है और पर्याप्त मात्रा में रहता है पर वह भक्ति तप विद्या आदि की तरह प्रधानता नहीं पाने पाता। अन्य पुरुषार्थों के साथ रहता है ऐसी हालत में योगी काम-योगी नहीं किन्तु कर्मयोगी बन जाता है।

**प्रश्न**–चित्र संगीत आदि काम के किसी ऐसे रूप को-जो विघातक नहीं है-अपनाकर पवित्र जीवन बितानेवाला योगी किस नाम से पुकारा जाय ?

**उत्तर**–कलाओं की शुद्ध उपासना में ईश्वर के साथ, और ईश्वर न मानते हों तो प्रकृति के साथ तन्मयता होती है इसलिये साधारणतः कलो-पासक योगी, भक्ति-योगी है। अगर कलोपासना में नये नये विचार और अनुभवों का आनन्द मिलता है तो वह सरस्वती की उपासना हो जाती है जैसे कविता कला। ऐसा आदमी अगर योगी हो तो सारस्वत योगी होगा। यदि उसका कला-प्रेम लोकहित के काम में आता होगा तो वह कर्मयोगी बन जायगा।

**प्रश्न**--यदि विद्या, कला आदि आराम के कामों-से मनुष्य कर्मयोगी कहला सकता है तो समाज सेवा के लिये सर्वस्व देने वाले, उसके कल्याण के लिये दिनरात चोटें खाने वाले क्या कहलायँगे ? और जो लोग समाजहित की पर्वाह नहीं करते उनको भी आप योगी कहें-तो यह भी अंधेर ही है ?

**उत्तर**--योगी के जो चार भेद बताये गये है वे रूप-भेद हैं, श्रेणी-भेद नहीं, प्रत्येक योग के पालन में तरतमता होती है । कर्मयोगी हज़ारों हो सकते हैं पर वे सब बरांबर होंगे यह बात नहीं है । इसलिये विद्या, कला आदि के साथ कर्मयोगी बननेवाले और सर्वस्व देकर क्रान्ति करके कर्मयोगी बनानेवाले समान नहीं है । उनका मूल्य तो योग्यता, त्याग और फलपर निर्भर है । इसलिये अधिक सेवा का महत्त्व नष्ट नहीं होता । इसके अतिरिक्त एक बात यह भी न भूल जाना चाहिये कि भक्ति करने से ही कोई भक्ति-योगी नहीं हो जाता, न विद्या कला से सारस्वत-योगी, न गृह-त्याग से संन्यास-योगी और न कर्म करने से कर्मयोगी । ये काम तो हर एक आदमी करता ही रहता है पर इन कामों के करते हुए योगी होना बात दूसरी है । योगी होने के लिये निष्पाप जीवन तत्वदर्शीपन और समभाव आवश्यक है । रही समाजहित की बात, सो समाजहित अपनी भीतरी और बाहिरी परिस्थिति पर निर्भर है । कभी कभी इच्छा रहते हुए भी समाजहित नही हो पाता ऐसी हालत में समाज का अहित न किया जाय यही काफ़ी है । ध्यान-योगी कम से कम इतना तो करते ही हैं । अगर किसी कारण वे समाजहित नहीं कर पाते तो उनका स्थान समाजहितकारियों-कर्मयोगियों से नीचा रहेगा पर वे अपनी आत्मशुद्धि के कारण योगी अवश्य कहलायँगे ।

इन तीनों प्रकार के योगों में कर्म की प्रधानता नहीं है किन्तु एकाग्र मनोवृत्ति की प्रधानता है इसलिये ये तीनों ध्यान योग है ।

## कर्मयोग

समाज के प्रति शक्त्यनुसार उचित कर्तव्य करते हुए भीतर से पूर्ण समभावी रहकर निष्पाप जीवन बिताना **कर्मयोग** है । चारों योगों मे कर्मयोग श्रेष्ठ और व्यापक है। ध्यान योग तो एक तरह से अपवाद है पर कर्मयोग सब के लिये है । ध्यानयोगी अगर बहुत अधिक हो जायँ तो समाज उनके बोझ से परेशान हो जाय पर कर्मयोगी सारा संसार हो जाय तो भी परेशानी नहीं होगी ।

**प्रश्न**--म. महावीर म. बुद्ध आदि गृहत्यागियों और भिक्षाजीवियों को भी आप कर्मयोगी कहते है अगर ऐसे कर्मयोगी अधिक हो जायँ तो समाज के ऊपर उनका भी बोझ हो जायगा फिर ध्यान योग में ही बोझ होने की सम्भावना क्यों ?

**उत्तर**--गृह त्यागी कर्मयोगी अगर मर्यादा से अर्थात्-आवश्यकता से अधिक हो जाँयगे तो कर्मयोगी ही न रह जाँयगे । क्योंकि कर्मयोगी तो उचित और आवश्यक कर्म करता है । अब अगर किसी कर्म की समाज को आवश्यकता नहीं है अथवा आवश्यकता जितनी है उसकी पूर्ति अधिक हो रही है इसलिये अधिक पूर्ति करने वाले बोझ हो रहे है तो ऐसी अवस्था मे वे बोझ बनने वाले कर्म करते हुए भी कर्मयोगी न कहलायेंगे । इसलिये म. महावीर म. बुद्ध आदि के श्रमण संघ में उतने ही श्रमण कर्मयोगी रह

सकते हैं जितने समाज के लिये जरूरी हों। और उस आवश्यकता के कारण समाज पर बोझ न बन सकें।

**प्रश्न**--उस आवश्यकता का निर्णय कौन करेगा?

**उत्तर**--आवश्यकता का निर्णय कर्मयोगी की सदसद्विवेक बुद्धि करेगी क्योंकि क्रान्तिकारी कर्म योगियों की सेवा का मूल्य समाज समझ नहीं पाता। उनके जीवन-काल में वह उन्हें सताता ही रहता है और उनके जाने के बाद वह उनकी पूजा करता है। क्या धर्म क्या समाज क्या राजनीति सब में प्रायः सब महापुरुषों के जीवन ऐसी परिस्थिति में से गुजरे हैं। इसलिये बहुत सी आवश्यकताओं का निर्णय उस समाज--सेवी को ही करना पड़ता है।

**प्रश्न**-ऐसी हालत में हरएक निकम्मा कर्मयोगी बन जायगा। दुनिया माने या न माने, आवश्यकता हो या न हो पर वह अपनी सेवा की उपयोगिता के गीत गाता ही रहेगा। व्यर्थ गाल बजाने को या कागज़ काला करने को सेवा कहेगा कदाचित् अपना वेष दिखाने को भी वह सेवा कहे। नाटक के पात्र अगर नाना वेष दिखा कर समाज का मनोरंजन आदि करते हैं तो वह साधु-वेष से कुछ न कुछ रंजन करेगा और उसको महान सेवा कहेगा। इस प्रकार कर्मयोग की तो दुर्दशा हो जायगी।

**उत्तर**--सेवा की आवश्यकता का निर्णय विवेक से होगा इसलिये हरएक निकम्मा कर्मयोगी न बन जायगा हाँ, वह कह सकेगा। सो कहा करे उसके कहने से हम उसे कर्मयोगी मानलें ऐसी विवशता तो है नहीं। किसी भी तरह के योगी का बोझ उठाने के लिये हम बँधे नहीं हैं फिर कर्मयोगी के लिये तो हम और भी अधिक निश्चित हैं। कर्मयोगी तो अपना मार्ग आप बना लेता है। समाज उसका अपमान करे उपेक्षा करे तो भी वह भीतर मुसकराता ही रहता है वह अपनी पूजा कराने के लिये आतुर नहीं होता। निकम्मे और दंभी अपने को कर्मयोगी भले ही कहें पर विपत्तियों के सामने भीतर की मुसकराहट उन में न होगी और वे उस परमानन्द से वंचित ही रहेंगे। इस प्रकार चाहे वे कागज़ काला करें, चाहे गाल बजायें चाहे रूप दिखावें, अगर वे कर्मयोगी नहीं हैं तो उसका आनन्द उन्हें न मिलेगा। और दुनिया तो सच्चे कर्मयोगियों को भी नहीं मानती रही है फिर इन्हें मानने के लिये उसे कौन विवश कर सकता है? मतलब यह है कि अपनी समाज-सेवा की आवश्यकता का निर्णय करने का अधिकार तो कर्मयोगी को ही है, इससे वह कर्मयोगी बन जायगा उसका आनन्द उसे मिलेगा और समय आने पर उसका फल भी होगा कदाचित् न हुआ तो इस की वह पर्वाह न करेगा, परन्तु उसे कर्मयोगी मानने न मानने कहने न कहने का अधिकार समाज को है। दोनों अपने अपने अधिकार का उपयोग करें इसमें कोई बाधा नहीं है।

**प्रश्न**--कर्मयोगी गृह-त्यागी भी हो सकता है और गृही भी हो सकता है; पर दोनों में अच्छा कौन?

**उत्तर**--अच्छे तो दोनों हैं पर किसी एक से अधिक अच्छेपन का निर्णय देश काल की परिस्थिति पर निर्भर है। थोड़ी बहुत आवश्यकता तो हर समय दोनों तरह के कर्मयोगियों की रहती

तरह का वैराग्य हमारे मन पर छा जाता है जो कि घर आने पर कुछ समय बाद दूर हो जाता है यह वैराग्य अपरामनोवृत्ति का है और जब बुढ़ापे में किसी का जवान बेटा मर जाता है जिसके शोक में वह दिनरात रोया करता है तो यह शोक परा मनोवृत्ति का है। हमारे मन में क्रोध आया परन्तु थोड़ी देर बाद क्रोध की निःसारता का विचार भी आया, जिस पर क्रोध हुआ था उस पर द्वेष न रहा तो कहा जा सकता है कि यहां अपरामनोवृत्ति क्षुब्ध हुई परा नहीं। जैसे नाटक का खिलाड़ी रोते हँसते भी भीतर से न रोता है न हँसता है उसी प्रकार योगी की परा मनोवृत्ति न रोती है न हँसती है। नाटक के खिलाड़ी दो तरह के होते है एक तो वे जो सिर्फ़ गाल बजाते हैं, हाथ मटकाते हैं पर मन पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। उनकी अपरामनोवृत्ति भी नहीं भींगती वे सफल खिलाड़ी नहीं है। सफल खिलाड़ी वही हो सकता है जिसकी अपरामनोवृत्ति भी भींगती है। वह सचमुच रोता है, हँसता है फिर भी इस रोने हँसने के भीतर भी एक स्थायीभाव है जो न रोता है न हँसता है वह सिर्फ़ इतना विचार करता है कि मेरा खेल अच्छा हो रहा है या नहीं। यही परामनोवृत्ति है।

**प्रश्न**—इस प्रकार अपनी परावृत्ति और अपरावृत्ति का भेद समझा जा सकता है पर दूसरे की परावृत्ति और अपरावृत्ति का भेद कैसे समझ मे आवे? यो तो हरएक आदमी कहने लगेगा कि मै परमशान्त हूं, योगी हूं और जो अशांति या कषाय दिख रही है वह अपरावृत्ति की है इस प्रकार योगी-अयोगी मे बड़ी गड़बड़ी हो जायगी।

**उत्तर**-ऐसी गड़बड़ी होना संभव है पर इस गड़बड़ी की परेशानी से बचने के दो उपाय हैं पहिली बात तो यह कि परामनोवृत्ति के विषय में शाब्दिक दुहाई का कोई मूल्य न किया जाय। समाज के प्रति मनुष्य अपनी अपरा मनोवृत्ति के लिये जिम्मेदार है। परामनोवृत्ति का मज़ा उसे लेना है तो लेता रहे, समाज को इससे कोई मतलब नहीं। एक लम्बा समय बीत जाने पर अगर उसकी परावृत्ति की निर्दोषता के सूचक प्रमाण मिलेंगे तब देखा जायगा। दूसरी बात यह कि परा-मनोवृत्ति के सूचक तीन चिह्न हैं उनसे उसकी पहिचान की जा सकती है।

१–न्याय-विनय, २ विस्मृत-वत् व्यवहार ३ पापी-पाप-भेद।

**न्याय-विनय**–योगी तभी क्रोधादि प्रगट करेगा जब किसी अन्याय का विरोध करना पड़े इसलिये उसमें निष्पक्ष विचारकता तो होना ही चाहिये। वह अपनी गल्ती समझने और सुधारने को हर समय तैयार रहेगा और पश्चात्ताप भी करेगा। अगर न्याय के सामने वह झुक नहीं सकता तब समझना चाहिये कि उसकी परा-मनोवृत्ति भी दूषित है।

**२–विस्मृत-वत्-व्यवहार**–घटना के हो जाने पर या उसके फलाफल का कार्य हो जाने पर इस तरह व्यवहार करना मानो वह घटना हुई ही नहीं है, हम वह घटना बिलकुल भूल गये हैं। इस प्रकार का व्यवहार अकषाय वृत्ति का सूचक है। इससे भी परामनोवृत्ति का अक्षोभ मालूम होता है।

**प्रश्न**—किसी दुर्जन की दुर्जनता के बाद भी हम उसकी दुर्जनता कैसे भूल सकते हैं? अगर भूल जाँय तो हमारी और दूसरो की परेशानी

बढ़ जायगी। इसलिये कम से कम उसकी दुर्जनता का स्मरण करके हमें उससे बचते रहने की कोशिश तो करते ही रहना चाहिये और अगर समाज-व्यवस्था के लिये दंड देना अनिवार्य हो तो दंड भी देना चाहिये विस्मृत-वत्-व्यवहार करने से कैसे चलेगा।

**उत्तर**—विस्मृत-वत् व्यवहार के लिये घटना का हो जाना ही आवश्यक नहीं है किन्तु उसका फलाफल-कार्य हो जाना भी आवश्यक है। एक चोर ने चोरी की है तो जब तक उसका दंड वह न भोगले तब तक हम उसकी बात नहीं भूल सकते। दंड देने का कार्य हम करेंगे। फिर भी उस पर दया रक्खेंगे, उसको सहज वैरी न बनायेंगे, तथा जब और जहाँ चोरी की बात नहीं है वहाँ उससे प्रेमल व्यवहार रक्खेंगे। मतलब यह है कि सुव्यवस्था रखने के लिये जितना दंड अनिवार्य है उतना तो देंगे लेकिन उस प्रकरण के बाहर उस घटना को भूले हुए के समान व्यवहार करेंगे।

३—**पापी-पाप-भेद**-जिसकी परावृत्ति अक्षुब्ध है वह पाप से घृणा करता है पापी से नहीं। पापी पर वह दया करता है उसे एक तरह का रोगी समझता है। पाप को रोग समझ कर उसे पाप से छुड़ाने की चेष्टा करता है। उसका ध्येय दंड नहीं होता सुधार होता है और दंड भी सुधार का अंग बन जाता है।

**प्रश्न**--ऐसे पाप या बुराई के लिये, जिसका असर दूसरों पर नहीं पड़ता अर्थात् दूसरों के नैतिक अधिकार को बाधा नहीं पहुँचती अगर अपराधी को दंड न दिया जाय, सिर्फ़ सुधार की दृष्टि से उसकी चिकित्सा ही की जाय तो ठीक है परन्तु उस पर दया करने के लिये दूसरों की क्षति-पूर्ति ( मानसिक आर्थिक आदि ) न करें तो समाज में बड़ी अव्यवस्था पैदा होगी। सताये हुए लोग न्याय न मिलने के कारण क़ानून को अपने हाथ में ले लेंगे एक खूनी को आप प्राण-दंड न देकर सुधार करने के लिये छोड़ दें तो खून करने की भीषणता लोगों के दिल से निकल जायगी इसलिये अपराध बढ़ जाँयगे। दूसरे वे लोग क़ानून को हाथ में लेकर खूनी का या उसके सम्बन्धी का खून करेंगे जिनके आदमी का पहिले खून किया गया है। क़ानून से निराश होकर जब मनुष्य खुद बदला लेने लगता है तब वह बदले की मात्रा भूल जाता है। जितनी ताक़त होती है उतना लेता है। इस प्रकार समाज में अंधाधुंधी मच जायगी। परन्तु अगर खूनी को प्राण-दंड दे दिया जाय तो उसका सुधार कब और कैसे होगा, उस पर हमारी दया कैसे होगी? इस प्रकार पापी और पाप के भेद को जीवन में उतारना योगी को भी असंभव है।

**उत्तर**—पापी और पाप के भेद का मतलब यह है कि पापी से व्यक्तिगत द्वेष न रखना और उससे बदला लेने की अपेक्षा निष्पाप बनाने का प्रयत्न करना। मूल में तो सभी एक से हैं। परिस्थितियों ने या भीतरी मलने अगर किसी व्यक्ति का पतन कर दिया है तो हमें उसके पतन पर दयापूर्ण दुःख होना चाहिये न कि द्वेष। पर अधिक सुख की नीति के अनुसार जब व्यक्ति और समाज का प्रश्न आता है तब समाज का अधिकार-रक्षण पहली बात है व्यक्ति का इलाज अगर समाज का नाइलाज बन रहा हो तो हमें व्यक्ति के इलाज पर उपेक्षा करना पड़ेगी। इसीलिये खूनी आदि को प्राणदंड की ज़रूरत है क्योंकि इससे उस व्यक्ति का इलाज भले

न हो पर समाज का इलाज होता है। जैसे भी कभी हमें रोगी को भी प्राणदंड देना पड़ता है से कभी कभी पापीको भी प्राणदंड देना पड़ता । पागल कुत्ता काटता है और उसके काटने । आदमी मर जाता है, इसमें उस कुत्ते का क्या अपराध है ? फिर भी समाज-रक्षण के लिये उसे प्राणदंड देना पड़ता है। संक्रामक रोगियों से द्वेष न होने पर भी बच कर रहा जाता है। इस प्रकार व्यक्ति-द्वेष न होने पर भी दंडादि व्यवस्था चल सकती है।

इन तीन चिह्नों से परा-मनोवृत्ति की पहिचान हो सकती है। जिसकी यह परा-मनोवृत्ति क्षुब्ध न हो उसे योगी समझना चाहिये।

**प्रश्न**—योगी का द्वेष जैसे भीतर से नहीं रहता उसी प्रकार राग भी भीतर से नहीं रहता। ऐसी हालत में योगी किसी से प्रेम भी सच्चा न करेगा। इस प्रकार उसका प्रेम एक प्रकार की वंचना हो जायगा। भक्ति आदि भी इसी प्रकार वंचना बन जायगी तब भक्तियोग असंभव हो जायगा। भक्ति से होनेवाला क्षोभ योगी के भीतरी मन तक कैसे जायगा और जब भक्ति परामनोवृत्ति में है ही नहीं तब उससे योग क्या होगा ?

**उत्तर**—परामनोवृत्ति अगर प्रेम से न भी भींगी हो तो भी वंचना न होगी। वंचना के लिये तीन बातें ज़रूरी है। एक तो यह कि अपरा मनोवृत्ति भी न भींगी हो दूसरी यह कि जो विचार प्रगट किये जाँयँ उनके पालन करने का विचार न हो। तीसरी बात यह कि दूसरे के हिताहित की पर्वाह न करके अपना स्वार्थ सिद्ध-करने की इच्छा हो। योगी का प्रेम ऐसा नहीं होता। म. राम कर्मयोगी थे उनकी परा मनोवृत्ति शान्त थी, अपरा मनोवृत्ति क्षुब्ध होती थी। उनका सीता-प्रेम और रावण-द्वेष ऐसा ही था। फिर भी उनका सीता प्रेम वंचना नहीं था क्योंकि सीता के लिये जान जोखम में डालकर वे रावण से लड़े। यद्यपि वह प्रेम प्रजा-सेवा में बाधा न डाल सका, प्रजा के लिये उन ने सीता का त्याग भी किया, फिर भी उनका सीता-प्रेम फीका न पड़ा, रिवाज़ के अनुसार आवश्यक होने पर भी उनने दूसरी शादी नहीं की-विश्वासघात नहीं किया। इस प्रकार परा मनोवृत्ति शांत थी इसलिये वे सीता का त्याग कर सके पर उनका प्रेम, वंचना नहीं था इसीलिये वे रावण से लड़ सके और जीवन भर सीता के विषय में विश्वासी रहे। परा और अपरा मनोवृत्ति का यह सुंदर दृष्टान्त है। हां, प्रेम परा-मनोवृत्ति में भी पहुँच कर मनुष्य को योगी बना सकता है। इस का कारण यह है कि द्वेष के समान प्रेम अधर्म नहीं है। द्वेष विभाव है प्रेम स्वभाव है क्योंकि यह विश्वसुख-वर्धक है। हां, प्रेम जहां पर अज्ञान या स्वार्थ के साथ मिल कर मोह बन जाता है-विश्वसुख-वर्धन रूप कर्तव्य में बाधक बन जाता है वहां पाप है। भक्तियोगी की भक्ति परा मनोवृत्ति तक जाती है फिर भी उस की परा-मनोवृत्ति दूषित नहीं होती क्योंकि उसकी भक्ति ज्ञान-भक्ति है, स्वार्थभक्ति या अन्धभक्ति नहीं। ज्ञान-भक्ति स्वपर-कल्याण की बाधक नहीं है बल्कि साधक है इससे वह दोष नहीं है जिससे परा-मनोवृत्ति दूषित हो जाय।

**प्रश्न**—बहुत से लोगों ने तो वीतरागता को ध्येय माना है-प्रेम भक्ति आदि को राग माना है। हां, इन्हे शुभराग माना है फिर भी योगी जीवन के लिये तो यह शुभराग भी बाधक है।

**उत्तर**—प्रेम और भक्ति भी शुद्ध न्याय आदि में बाधक हो जाते हैं इसलिये वे भी अशुद्ध रूप में हेय हैं। पर शुद्ध प्रेम और शुद्ध भक्ति न्याय या कर्तव्य में बाधक नहीं होते इसलिये वे उपादेय हैं। वीतरागता सिर्फ़ कषायों का अभाव नहीं है, क्योंकि अगर वह अभावरूप ही हो तो वस्तु ही क्या रहे, इस प्रकार की अभावात्मक वीतरागता या अरागता तो मिट्टी पत्थर आदि मे भी होती है। मनुष्य की वीतरागता इस प्रकार जड़ता रूप नहीं है वह चैतन्य रूप है, प्रेम रूप है, विश्व-प्रेम रूप है इसलिये वह भाव-रूप है। प्रेम वहीं निंदनीय है जहाँ अपने साथ द्वेष की छाया लगाये रहे। कहा जाता है कि देवों के छाया नहीं होती, यह कल्पना इस रूप में सत्य कही जा सकती है कि योगी अर्थात् दिव्यात्माओं का प्रेम छाया-हीन होता है अर्थात् उनके प्रेम में काली बाजू नहीं होती। अगर योगी लोग प्रेम-हीन हों तो अकर्मण्य हो जाँयँ। म. महावीर म. बुद्ध यदि प्रेम-हीन होते तो जगत् को सुधारने का प्रयत्न ही क्यों करते ? वास्तव में ये महान प्रेमी या विश्व-प्रेमी थे इसीलिये परम वीतराग थे। वीतरागता प्रेम के विरुद्ध नहीं है। वह मोह, लोभ, लालच, तृष्णा आदि के विरुद्ध है। भक्ति में भी स्वार्थ-भक्ति और अन्ध-भक्ति वीतरागता के विरुद्ध है ज्ञान-भक्ति नहीं। भक्ति-योगी तो ज्ञान-भक्त होता है।

**प्रश्न**—कहा जाता है कि म. महावीर के मुख्य शिष्य इन्द्रभूति गौतम म. महावीर के अत्यधिक भक्त थे इसलिये प्रारम्भ में इस भक्ति-वश उनका उत्थान तो हुआ परन्तु आगे इस भक्तिने उनका विकास रोक दिया। जब तक वे भक्त बने रहे तब तक उनने केवलज्ञान न पाया अर्थात् योगी न हुए। इससे मालूम होता है कि [illegible] भी एक तरह का राग है जो वीतरागता में बाधक है

**उत्तर**—गौतम कर्म-योगी थे फिर भी [illegible] भर म. महावीर के भक्त रहे। केवल ज्ञान [illegible] जाने पर भी वह भक्ति नष्ट न हो गई सि[illegible] म. महावीर के विषय में जो उनका मोह या आसक्ति थी वह नष्ट हो गई। इस आसक्ति के [illegible] गौतम में आत्मनिर्भरता का अभाव था, म. [illegible] के वियोग मे वे दुःखी और निर्बल हो जाते [illegible] केवलज्ञान हो जाने पर यह बात न रही। [illegible] महावीर ने जो जगत् का उपकार किया था [illegible] उपकार किया था उसे इन्द्रभूति न भूले, [illegible] भर उनका गुणगान करते रहे उनके विषय [illegible] इन्द्र-भूति का आचरण विनय-युक्त रहा इस [illegible] वे योगी होकर भी उनके भक्त बने रहे।

भक्ति हो गुणानुराग हो कृतज्ञता हो या प्रेम [illegible] कोई दूसरा रूप हो जो दूसरों के अधिकार [illegible] बाधा नहीं डालता और न कर्तव्य का [illegible] बनाता है वह आत्मशुद्धि या योग का नाशक न[illegible] है। अपने सम्पर्क में आये हुए लोगों से [illegible] मात्रा में कुछ विशेष-प्रेम योगी को ख़ास [illegible] कर्मयोगी को होता ही है। गुणानुराग [illegible] दीन-वात्सल्य भी योगी के लिये आवश्यक है।

**प्रश्न**—योग के भेदों में हठयोग आदि [illegible] वर्णन क्यों नहीं किया ? इन्हें ध्यान योग क[illegible] जाय या कर्मयोग ? ध्यान योग कहा जाय तो [illegible] संन्यास या सारस्वत ?

**उत्तर**—हठ योग आदि का योग-दृष्टि [illegible] स्थान नहीं है। हठयोग आदि तो एक तरह [illegible] कसरतें हैं जो अपनी भौतिक अवस्थाओं [illegible] विशेष प्रभाव डालती हैं। ऐसा योगी

तरह का वैद्य है। आत्मशुद्धि ( संयम आदि ) का उससे कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। पर योगदृष्टि में जो योग है वह तो संयम का एक विशाल उत्कर्ष है जिसे पाकर मनुष्य अर्हत्, बुद्ध वीतराग या समभावी बनता है।

**प्रश्न**—ध्यान--योगी जैसे नाना अवलम्बन लेते है जिनके तीन भेद किये गये हैं-भक्ति संन्यास और सारस्वत, उसी प्रकार हठयोग आदि में भी मन एक तरफ़ लगाया जाता है इस लिये ध्यान योग के भेदों में इसका भी एक स्थान होना चाहिये। जैसे सिर्फ़ भक्ति से कोई भक्ति-योगी नहीं होता उसी प्रकार हठयोग आदि से ही आप उसे योगी न मानें पर संयम की सीमा पर पहुंचा हुआ कोई योगी भक्ति आदि की तरह इस भौतिक योग का अवलम्बन ले तो ध्यान योग में एक भेद और क्यों न हो जाय ?

**उत्तर**—सब तरह के ध्यान योग एक तरह के संन्यास योग है। संन्यासी एकाग्रता के लिये कोई न कोई अवलंबन लेता ही है इसलिये हठ-योगी ( भौतिक योगी ) अगर संयम की दृष्टि से भी योगी-आध्यात्मिक योगी-हो तो वह संन्यास योगी कहलायगा। अगर वह अपनी चित्तवृत्ति को रोक कर किसी विचार, अन्वेषण आदि में स्थिर करता है तो वह सारस्वत-योगी है। इस लिये उसका अलग भेद बनाने की ज़रूरत नहीं है। भक्ति और सारस्वत योग अलग गिनाये इस का कारण यह है कि ये संयम के रास्तेमें आगे बढ़ाने के विशेष साधन हैं। संयम निष्पाप प्रेममय है। उसे मन और बुद्धि दोनों रास्तों से पाया जा सकता है। मन के रास्तेमें जब हम पाते हैं तब भक्ति योग बन जाता है उसमें मन की शक्ति प्रबल हो जाती है। जब बुद्धि के रास्ते से पाते हैं तब सारस्वत योग बन जाता है इस मे बुद्धि की शक्ति प्रबल हो जाती है। जब बुद्धि और मन शिथिल होकर समन्वित होते हैं तब संन्यास योग हो जाता है। इसमें विशुद्ध प्रेम, भक्ति की तरह किसी एक जगह गाढ़ा न होकर प्रायः समानरूप में सब जगह फैलकर इतना सूक्ष्म बन जाता है कि उसे विराग कहने लगते हैं। ( कर्मयोग में बुद्धि और मन दोनों की शक्ति प्रबल होकर समन्वित होती है ) इस प्रकार ये चारों योग मन और बुद्धि के विविध रूपों से बने हैं। इन मे व्यायाम का-फिर चाहे उसका नाम योग ही क्यों न हो—कोई स्थान नहीं है।

प्रत्येक प्राणी को योगी बनना चाहिये। ध्यान योगी की आवश्यकता अल्प है कर्मयोगी की आवश्यकता अपरिमित है। विश्व मे जितने अधिक कर्मयोगी होंगे विश्व उतना ही अधिक विकसित और सुखी होगा।



# दृष्टिकांड पाँचवाँ अध्याय ( लक्षण-दृष्टि )

जो योगी बन गया है वही पूर्णसुखी है। पूर्ण सुखी बनने के लिये हरएक आदमी को योगी बनने की चेष्टा करना चाहिये। जो चार तरह के योगी बताये गये हैं उनमे से किसी भी तरह का योगी हो उसमें निम्न--लिखित पाँच चिह्न अवश्य होना चाहिये। अथवा योगी के ये अवश्य होते हैं। १ विवेक (अमूढ़ता) २ धर्म-सम-समभाव ३ जाति-समभाव ४ व्यक्ति-समभाव ५ अवस्था-समभाव

योगी की दो श्रेणियाँ हैं, सिद्ध और साधक। सिद्ध-योगी के पांचों चिह्न पर्याप्त मात्रा-में होते हैं। साधक योगी के सब नहीं रहते या पर्याप्त मात्रा में नहीं रहते। अपूर्णता या अप-र्याप्तता की दृष्टि से साधक-योगी की असंख्य श्रेणियाँ हैं पर उन सब श्रेणियों को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं ( १ ) लवसाधक ( २ ) अर्धसाधक ( ३ ) बहुसाधक।

लवसाधक अर्थात् एक अंश [ प्रथमअंश ] विवेक ( अमूढ़ता ) की साधना करने वाला। उसमें बाकी चार अंशों की साधना नाम मात्र की रहती हैं। अर्धसाधक तीन अंशों की [ विवेक, धर्म-समभाव, जाति-समभाव ] साधना करनेवाला है, बाकी दो अंशों की साधना गौण है। बहुसाधक पांचों अंशों की साधना करता है पर कहीं कोई त्रुटि रह जाती है। सिद्धयोगी में यह त्रुटि नहीं रहती। जो मनुष्य लवसाधक भी नहीं है उस की मनुष्यता बहुत अंशों मे निष्फल है। इसलिये कम से कम लवसाधक तो हरएक को बनना चाहिये।

**प्रश्न**--विवेक के बिना भी धर्म--समभाव और जाति-समभाव हो सकता है। कोई कोई समाज ऐसे हैं जिन मे जाति--पाँति का विचार होता ही नहीं है, वे किसी भी जाति के हाथ का खाते हैं, कहीं भी शादी करते हैं पर विवेकी बिलकुल नहीं होते। रिवाज़ के कारण या अच्छे बुरे की अक्ल न होने के कारण वे जाति-समभावी या धर्मसमभावी बन गये हैं। वंश--परम्परा से सत्यसमाजी बननेवाला विवेकहीन होकर भी धर्म-जाति-समभावी होगा। ऐसे व्यक्तियों को लव-साधक कहा जाय या अर्ध-साधक ?

**उत्तर**--विवेकहीन व्यक्ति न तो लवसाधक होता है न अर्धसाधक। वह साधक ही नहीं है।

वंशपरम्परा से कोई प्रमाणित सत्यसमाजी नहीं बन सकता। प्रमाणित वह तभी होगा जब समझदार होने पर समझपूर्वक सत्यसमाज के तत्त्वों को स्वीकार करेगा। रूढ़ि-वश जो समभावी बनते हैं उनके समभाव का व्यावहारिक मूल्य तो है पर आध्यात्मिक मूल्य बिलकुल नहीं है, वे कोई भी समाजी हों साधक की पहिली श्रेणी मे भी नही आ सकते। दूसरी बात यह है कि विवेक-हीन अवस्था में उनके भीतर जाति-समभाव या धर्म-समभाव आ भी नहीं सकता। अधिक से अधिक इतना ही होगा कि विषमभाव को प्रगट करनेवाले कुछ कार्य न हों। सब के साथ रोटी बेटी व्यवहार करने पर भी विषमभाव रह सकता है। विषमभाव के चिह्न घृणा और अभिमान हैं। रोटी-बेटी-व्यवहार का बन्धन न होने पर भी राष्ट्र, प्रान्त, रंग आदि के नामपर जातिमद आ सकता है। धार्मिक सम्प्रदायों में समभाव रहने पर भी सामाजिक सम्प्रदायों में रीति रिवाज़ों में विषमभाव आ सकता है। इसलिये जहां विवेक नहीं है वहां वास्तविक समभाव की अति हो जायगी। धर्म-समभाव में धर्म के नाम पर चलते हुए बुरेसे बुरे क्रियाकाण्ड आदि भी वह मानने लगेगा मनुष्य और पशु के बीच जो उचित भेद है वह भी नष्ट हो जायगा इस प्रकार के अति-वादी समभाव से कोई साधक योगी नही बन सकता। योगी होने के लिये निरतिवादी समभाव चाहिये जो कि विवेक के बिना नही हो सकता। योगी होने के लिये विवेक पहिली शर्त है।

## १ विवेक

अच्छे बुरे का--कल्याण अकल्याण का ठीक ठीक निर्णय करना **विवेक** है। एक तरह से पहिले सत्यदृष्टि अध्याय मे इसका विवेचन हो गया है। विवेकी में तीन बातें होना चाहिये निःपक्षता, परीक्षकता, और समन्वय-शीलता।

भगवान सत्य के दर्शन करने के लिये इन तीन गुणों की आवश्यकता है। भगवान सत्य के दर्शन हो जाने का अर्थ है विवेकी हो जाना। इसलिये उक्त तीन गुण विवेकी होने के लिये ज़रूरी हैं।

उक्त तीन गुणों के प्राप्त हो जाने पर मनुष्य त्व-साधक योगी हो जाता है और किसी भी तरह की मूढ़ता कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय मे बाधक नहीं रहती। फिर भी चार तरह की मूढ़ताओं का कुछ स्पष्ट विवेचन करना ज़रूरी है। क्योंकि योगी बनने के लिये इस प्रकार की मूढ़ताओं का त्याग आवश्यक है।

चार मूढ़ताएँ निम्न लिखित हैं--१ गुरु-मूढ़ता २--शास्त्र मूढ़ता, ३--देव-मूढ़ता ४ लोक-मूढ़ता।

१--**गुरु मूढ़ता**--पूर्ण योगी के लिये गुरु की आवश्यकता नहीं होती। शिष्टाचार और कृतज्ञता के कारण वह पूर्व अवस्था के गुरु को गुरु मानता है पर योगी अवस्था में मनुष्य अपना गुरु आप हो जाता है। साधक अवस्था में प्रायः गुरु की आवश्यकता होती है पर अधिकांश लोग गुरु मूढ़ता के शिकार बनकर गुरु के लाभ से वञ्चित रहते है और समाज पर कुगुरुओं का बोझ बढ़ाते है।

**कल्याण के मार्ग में जो अपने से आगे है और अपने को आगे खींचने का प्रयत्न करता है वह गुरु है।** साधुता के बिना कोई सच्चा गुरु नहीं हो सकता साधुता का अर्थ है निःस्वार्थ परोपकार अथवा स्वार्थ से अधिक परोपकार। ऐसा साधु को होना ही चाहिये।

गुरु की तीन श्रेणियाँ है--स्वगुरु, संघगुरु

विश्वगुरु। दुनिया के लिये वह कैसा भी हो परन्तु जो हमारा उद्धारक है वह **स्वगुरु** है । परोपकार आदि तो उसमें भी होना चाहिये इतना ही है कि उस का उपकार एक व्यक्ति तक ही सीमित रहता है ।

जिसका उपकार किसी एक दल या समाज पर है वह **संघ-गुरु** है । हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, जैन, बौद्ध आदि सम्प्रदायों की सेवा करनेवाले गुरु भी संघ-गुरु हैं । इसी प्रकार राष्ट्र, प्रान्त आदि की सेवा करने वाले भी संघ-गुरु हैं ।

**प्रश्न**--मनुष्य कितना भी शक्तिशाली हो पर वह सारे जगत के प्रत्येक व्यक्ति की सेवा नहीं कर सकता इसलिये बड़ा से बड़ा गुरु भी संघ-गुरु कहलायगा फिर विश्व गुरु भेद किस लिये किया ?

**उत्तर**--विश्व-गुरु होने के लिये प्रत्येक व्यक्ति की सेवा करने की ज़रूरत नहीं है किन्तु उस उदारता की ज़रूरत है जिस में प्रत्येक व्यक्ति समा सके जिसकी सेवा--नीति मनुष्यमात्र या प्राणिमात्र के कल्याण की हो । फैलने के विशाल साधन न होने से वह थोड़े क्षेत्र में भले ही काम करे पर जिसका मन संकुचित न हो वह विश्व-गुरु है ।

**प्रश्न**-राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद आदि महात्माओं ने किसी एक जाति या सम्प्रदाय के लिये काम किया था तो इन्हें संघ-गुरु माना जाय या विश्वगुरु ?

**उत्तर**--विश्वगुरु । क्योंकि इनकी नीति मनुष्यमात्र की सेवा करने की थी । उनने जो सम्प्रदाय भी बनाये वे मनुष्यमात्र की सेवा करने के लिये स्वयंसेवकों के संगठन के समान थे । वे जगत्कल्याण की प्रत्येक बात ग्रहण करने को तैयार थे इन्हें कोई पुरानी परम्परा का या अमुक मानव-समूह का कोई पक्षपात न था । विश्वहित के नियमों को जीवन में उतार कर बताना इनका ध्येय था इसलिये ये विश्व-गुरु थे ।

पर इनके बाद जो साम्प्रदायिक लोग इनके अनुयायी कहलाये उनके लिये विश्वहित गौण था अमुक परम्परा या अमुक नाम मुख्य था जिनको अपना मान लिया था उनके लिये वे दूसरों की पर्वाह नहीं करते थे इसलिये वे नेता अधिक से अधिक संघ-गुरु कहे जा सकते हैं, विश्वगुरु नहीं।

**प्रश्न**--क्या कोई हिन्दू मुसलमान जैन बौद्ध या ईसाई आदि रहकर विश्वगुरु नहीं हो सकता ?

**उत्तर**--हो सकता है, पर वह हिन्दू या मुसलमान आदि अपने वर्ग के लिये दूसरों का नुक़सान न करेगा । नाम की छाप रहेगी पर काम व्यापक होगा । इसलिये वह विश्वमात्र की सेवा करने की नीति के कारण विश्व-गुरु कहलायगा ।

**प्रश्न**--इस प्रकार उदारता रखने से ही अगर कोई विश्वगुरु कहलाने लगे तब जिसको पड़ोसी भी नहीं जानता वह भी अपने को विश्व-गुरु कहेगा । विश्व-गुरुत्व बड़ी सस्ती चीज़ हो जायगी।

**उत्तर**--विश्व-गुरु को पहिले गुरु होना ही चाहिये, वह सिर्फ़ उदार नीति रखता है पर उस नीति पर दूसरों को चलाने की शक्ति नहीं रखता तो वह गुरु ही नहीं है विश्वगुरु क्या होगा ? इस प्रकार उदार और गुरु होने के साथ उसका प्रभाव इतना व्यापक होना चाहिये जो ज़माने को देखते हुए विश्वव्यापी कहा जा सके । जब जाने आने के साधन थोड़े थे, छापाखाना, समाचार-पत्र, तार आदि न होने से मनुष्य अपना प्र बहुत नहीं फैला पाता था तब अरब या मगध ही प्रभाव फैला सकना विश्वगुरुत्व होने के

र्याप्त प्रभाव था । आज उतने से काम नहीं चल सकता । आज विश्वगुरु होने के लिये कई राष्ट्रों की जनता पर थोड़ा बहुत प्रभाव चाहिये । कल गृह नक्षत्र आदि में मनुष्य की गति हो जाय तो केवल पृथ्वीपर प्रभाव होने से ही कोई विश्वगुरु न कहलायगा । उसे उससे भी अधिक प्रभाव फैलाना पड़ेगा । इसलिये विश्वगुरु होने के लिये उदार नीति, गुरुत्व और व्यापक प्रभाव चाहिये ।

**प्रश्न**--ऐसा भी देखा गया है कि गुरुत्व और उदारता होने पर भी जीवन मे किसी का प्रभाव नहीं फैला और मरने के बाद वह अपेक्षाकृत विश्वव्यापी हो गया । जैसे म. ईसा को लीजिये, उनके जीवन मे उनके अनुयायी इनेगिने थे पर आज करोड़ों की संख्या में है तो उनका गुरुत्व उनके जीवन-काल की दृष्टि से लगाया जाय या आज की दृष्टि से ।

**उत्तर**--ऐसे व्यक्ति मरने के बाद गुरु नहीं रहते, वे देव-व्यक्तिदेव-बन जाते हैं । यह स्थान विश्वगुरु से भी ऊँचा है । पर मानलो कोई देव नहीं बन सका, वह मनुष्यमात्र का सेवक या गुरु था पर अपने जीवन मे नहीं फैला तो भी वह विश्वगुरु कहा जायगा । क्योंकि विश्वगुरु होने का बीज उसके जीवन में था जो कि समय पाकर फल गया । जीवन में फले या जीवन के बाद फले वह विश्वगुरु कहलाया । जो लोग बीज से ही फल का अनुमान कर सकते है उस की दृष्टि में वह पहिले ही विश्वगुरु था-बाकी जगत की दृष्टि में फलने पर हो गया ।

**प्रश्न**--इस प्रकार स्वर्गीय लोगों को विश्वगुरु ठहराने से उन्हें क्या लाभ ? और अपने को क्या लाभ ?

**उत्तर**--उनको तो कोई लाभ नहीं पर हमें बहुत लाभ है । उनके पद-चिह्नों से हमे कल्याण-मार्ग पर चलने मे सुभीता होता है ।

**प्रश्न**--विश्वगुरु तो हर हालत में आवश्यक मालूम होता है पर संघ-गुरु तो कुगुरु है क्योंकि वह अपने संघ की जितनी भलाई करता है उससे अधिक दूसरे संघों की बुराई करता है ।

**उत्तर**--जैसे स्वगुरु का यह अर्थ नहीं हैं कि पर की बुराई करे उसी प्रकार संघगुरु का भी यह अर्थ नहीं है कि वह संघ की बुराई करे । भलाई का सेवा-क्षेत्र परिमित है और बाकी क्षेत्र पर काफी उपेक्षा है यही उसका संघ--गुरुत्व है, पर अगर विश्वका अहित करे तो वह एक प्रकार का कुगुरु हो जायगा । एक आदमी धर्म-मद के वश में होकर जगत की निन्दा करता है, सब को मिथ्यात्वी या नास्तिक बताता है तो वह कुगुरु है ।

**प्रश्न**--पर-निन्दा से अगर गुरु कुगुरु बन जाय तो सत्य-असत्य की परीक्षा करना कठिन हो जायगा क्योंकि असत्य की निंदा करने से आप उसका गुरुत्व छीनते है ।

**उत्तर**--असत्य की निंदा करना बुरा नहीं है, निष्पक्ष आलोचना आवश्यक है और कल्याण-कर को कल्याणकर और अकल्याणकर को अक-ल्याणकर भी कहना ही पड़ता है पर यह कार्य निष्पक्ष आलोचक बन कर करना चाहिये और धर्ममद आदि मद के कारण पर-निन्दा कभी न करना चाहिये ।

**प्रश्न**--निष्पक्षता से क्या मतलब है ? हर-एक मनुष्य कुछ न कुछ अपने विचार रखता ही है-आलोचना करते समय वह उन्हें कहाँ फेंक देगा ?

**उत्तर**–अपने विचार होना ही चाहिये पर उनके अनुसार सिर्फ़ मन को ही बनाकर रक्खो जिससे उनके अनुसार काम कर सको। दृढ़ निश्चय होना भी अच्छा है पर मनके समान बुद्धि को भी उनका गुलाम बनाकर मत रक्खो आलोचना करते समय बुद्धिको बिलकुल स्वतंत्र रक्खो, अनुभव और तर्कका निर्णय माननेको तैयार रहो।

**प्रश्न**--घटना-विशेष पर कभी कभी ऐसा अनुभव होता है कि वह पुराने अनुभवों को नष्ट सा कर देता है। जो जीवनभर हितैषी होने से प्रिय रहा है वह अप्रिय सा मालूम होने लगता है, चिकित्सा के कष्ट से घबरा कर रोगी वैद्य को भी बुरा समझने लगता है। इसी प्रकार कोई कोई विद्वान अपने बुद्धि-वैभव से सत्य को भी असत्य सिद्ध कर देता है, अगर ऐसे समय में बुद्धि को स्वतंत्र छोड़ दिया जाय तो वैद्य को शत्रु मानना पड़ेगा और सत्य को असत्य मानना पड़ेगा।

**उत्तर**–यह बुद्धि का नहीं मनका दोष है। जिस समय मन क्षुब्ध हो उस समय मनुष्य सत्यासत्य का निर्णय नहीं कर सकता, कम से कम जिस विषय में क्षोभ है उस विषय में नहीं कर सकता या कदाचित् ही कर सकता है। इसलिये रोगी के क्षुब्ध मन के निर्णय का कुछ मूल्य नहीं; रही बुद्धि के विमोहित होने की बात सो विचारणीय विषय जैसा गंभीर हो उसके लिये उतना समय देना चाहिये और निष्पक्ष विचारक के नाम पर इतना कहना चाहिये कि अभी तो इस बात का उत्तर नहीं सूझा है पर कुछ समय बाद भी अगर न सूझेगा-दूसरों से चर्चा करने पर भी अगर न मिलेगा तो अवश्य विचार बदल दूंगा। काफ़ी समय लगाने पर भी अगर अपने विचार परीक्षा में न ठहरें तो मोहवश या मद-वश उनसे चिपके न रहना चाहिये। अगर कोई गुरु ऐसा पक्षपाती है तो वह कुगुरु है। जो स्वयं सत्य को नहीं पा सकता वह दूसरों को कैसे सत्य प्राप्त करायगा और कैसे सत्पथ पर चलायगा?

**प्रश्न**–कुगुरु किसे कहना चाहिये?

**उत्तर**–जो गुरु नहीं है किन्तु शब्द-भाषा या मौन-भाषा द्वारा गुरु होने का दावा करता है वह कुगुरु है।

**प्रश्न**–शब्द-भाषा और मौन-भाषा का क्या मतलब?

**उत्तर**–शब्दो से बोलकर या किसी प्रकार लिख कर विचार प्रकट करना **शब्द-भाषा** है। तार आदि में जो स्वर-व्यञ्जन-संकेत होते है वह भी शब्द-भाषा है पर वेष से या किसी तरह के व्यवहार से अभिप्राय प्रगट करना **मौन-भाषा** है।

किसी भी तरह से जो गुरु होने का दावा करे किन्तु गुरु न हो वह कुगुरु है।

**प्रश्न**–जो गुरु नहीं है उसे अगुरु कहना चाहिये कुगुरु क्यों?

**उत्तर**–अगुरु तो प्रायः सभी हैं। पर जो गुरु न होने पर भी गुरु होने का दावा करे वह वंचक है इसलिये कुगुरु है।

**प्रश्न**–हो सकता है कि कोई गुरु न हो पर अपने से अच्छा हो तो उसे गुरु मानने में क्या बुराई है?

**उत्तर**–अपने से अच्छा हो तो इतना ही मानना चाहिये कि वह अपने से अच्छा है। अगर वह अच्छापन हमें भी अच्छा बनाने के काम आता हो तो स्वगुरु मानना भी ठीक है पर अमुक आदमी से अच्छा होने के कारण कोई गुरुत्व का दावा करे तब वह कुगुरु ही है। वह अपने से

जितना अच्छा है उतना उसका आदर आदि होना चाहिये पर गुरु मान कर नहीं। खोटा रुपया पैसे की अपेक्षा अधिक क़ीमती होने पर भी बाज़ार मे नहीं चलता क्योंकि वह रुपया बन कर चलना चहता है इसी प्रकार अगुरु हमसे सिर्फ़ कुछ अच्छा होने पर जब गुरु बन कर चलना चाहता है तब खोटे रुपये की तरह निंद-नीय है।

परन्तु यह भी ख़याल चाहिये कि अच्छेपन की निशानी १ वेष, २ पद, ३ व्यर्थ क्रिया, और ४ व्यर्थ विद्या नहीं हैं। बहुत से लोग इनको गुरुत्व का चिह्न समझते है पर यह गुरु-मूढ़ता का परिणाम है।

नग्नता, पीले वस्त्र, सफ़ेद वस्त्र, भगवाँ वस्त्र, जटा, मुँहपत्ति आदि अनेक तरह के जो साधुवेष है उन्हे गुरुता का या साधुता का चिह्न न समझना चाहिये। वेष तो सिर्फ़ अमुक संस्था के प्रमाणित या अप्रमाणित सदस्य होने की निशानी है पर किसी संस्था के सदस्य हो जाने से गुरुत्व या साधुता नहीं आती।

**प्रश्न**–दुनिया के बहुत से काम वेष से ही चलते है। ख़ास कर अपरिचित जगह में कौन मनुष्य कितना आदरणीय है इसका निर्णय उसके वेष से ही करना पड़ता है।

**उत्तर**–वेष के ऊपर पूर्ण उपेक्षा करने की आवश्यकता नहीं है किन्तु उसकी उपयोगिता मामूली शिष्टाचार तक ही रहना चाहिये। विनय के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। शिष्टा-चार में भी साधुता या अन्य गुणो की अवहेलना न होना चाहिये। उदाहरणार्थ एक समाज--सेवी विद्वान या श्रीमान है इतने मे एक साधुवेषी जैनमुनि, बौद्ध श्रमण, हिन्दू संन्यासी, पादरी या फ़क़ीर आया तो जबतक उसके विशेष गुणो का परिचय नहीं मिला है तबतक वह एक सभ्य गृहस्थ के समान आदर पायगा। बाद मे परिचय होने पर उस समाजसेवी की अपेक्षा साधुवेषी की सेवा आदि जैसी कम--ज्यादा होगी उसके अनुसार आदर पायगा।

**प्रश्न**–वेष की उपयोगिता कहाँ तक है नियत वेष रखना चाहिये या नहीं? सब को कैसा वेष रखना चाहिये?

**उत्तर**–वेष भी एक तरह की भाषा है इस लिये अपने व्यक्तित्व का परिचय इस मौन भाषा में दिया जाता है। पर भाषा तो यहीं बता सकती है कि यह आदमी यह बात प्रगट करना चाहता है यह बात इसमे है ही ऐसा नियम तो है नहीं इसलिये जैसे कहने मात्र से हम किसी को साधु या महापुरुष नहीं मान लेते—उसके अन्य कार्यों का विचार करते हैं उसी प्रकार वेष-मात्र से किसी को साधु न मान लेना चाहिये। किसी संस्था की सदस्यता बताने के लिये नियत-वेष भी उचित है फिर भी वेष ऐसा रखना चाहिये जो बीभत्स या भयंकर न हो। नग्न वेष लेकर नगर मे घूमना, खोपड़ियाँ पहिनना आदि अनु-चित है। साथ ही वेष अपनी सुविधा, जलवायु तथा आर्थिक स्थिति के अनुसार होना चाहिये। वेष के द्वारा जनता मे भ्रम पैदा न करना चाहिये और न अपने से भिन्न वेष देखकर घृणा। वेष को लेकर साधुता में काफ़ी भ्रम पैदा किया जाता है क्योंकि साधुता सब से अधिक पूज्य और वंदनीय है और गुरुता तो उससे भी अधिक। गुरुता का तो हमारे जीवन की उन्नति-अवनति से बहुतसा सम्बन्ध है, इसलिये इस विषय मे

बहुत सतर्क रहने की ज़रूरत है। सिर्फ़ वेष देख कर किसी को गुरु या साधु न मानना चाहिये।

**प्रश्न**—जो साधु-संस्था जगत का कल्याण करती हो उसमें अगर धोखे से कोई निर्बल या चालाक आदमी घुस जाय और अपने दोष से उस साधु-संस्था की बदनामी करे तो साधु-संस्था की बदनामी रोकने के लिये उस साधु-वेषी के दोष छिपाये रखना और साधु-संस्था के सन्मान करने के लिये उस साधु का सन्मान करना क्या अनुचित है?

**उत्तर**—अनुचित है। साधु-संस्था को बदनामी से बचाने के लिये दोषी के दोष दूर करने की या उसे अलग कर देने की ज़रूरत है न कि छिपाने की। छिपाने की नीति से साधु-संस्था बदमाशों का अड्डा बन जाती है और सबसे पवित्र संस्था सबसे अधिक अपवित्र होकर जनता का नाश करती है और साधु-संस्था की बदनामी सदा के लिये हो जाती है। दुराचारी और बदमाश लोगों को उससे अलग कर दिया जाय तो जनतापर इस का अच्छा प्रभाव पड़ता है। जनता समझने लगती है कि इस साधु-संस्था मे खराब आदमी की गुजर नहीं है, खराब आदमी यहां से निकाल दिया जाता है। वेष की इज्जत रखना हो तो वेष का दुरुपयोग न करने देना चाहिये। फिर भी यह तो हर हालत मे आवश्यक है कि वेष की इज्जत साधुता आदि से अधिक न हो।

वेष के समान पद भी गुरुता की निशानी नहीं है। पद का सम्बन्ध किसी संस्था की व्यवस्था से है--गुरुता से नहीं। आचार्य, पोप खलीफ़ा आदि पद समय समय पर लोगों ने धर्म-संस्था की व्यवस्था के लिये बनाये थे। हरएक चीज़ का दुरुपयोग होता है--पद का तो कुछ विशेष मात्रा में। फिर भी जो उस संस्था के अंग हैं उन्हें पद का सन्मान रखना चाहिये। उसका दुरुपयोग हो रहा हो या अनावश्यक हो तो भले ही वह नष्ट कर दिया जाय पर व्यवस्था के लिये पद का सन्मान करना उचित है। इतना होने पर भी पद गुरुता की निशानी नहीं है और पद का दुरुपयोग हो रहा हो तो उसको निभाते जाना भी उचित नहीं है। साधक किसी पद के कारण किसी को गुरु नहीं बनाता।

क्रियाकाण्ड भी गुरुता की निशानी नहीं है। एक आदमी अनेक तरह के आसन लगाता है, अनेक बार स्नान करता है या बिलकुल स्नान नहीं करता, धूप में तपता है या अग्नि तपता है, सिर के बाल हाथ से उखाड़ लेता है, घंटे पूजा करता है, जाप जपता है, एकान्त में बैठता है, मौन रखता है या दिन भर नाम आदि जपता रहता है, उपवास करता है या एक ही बार खाता है, अनेक घरों से माँगकर खाता है या एक ही घर में खाता है इत्यादि बहुतसा क्रिया-काण्ड भी गुरुता की निशानी नहीं है। उनमें बहुतसा निरर्थक है, बहुतसा सिर्फ़ व्यायाम के समान उपयोगी है वह भी किसी ख़ास समय के लिये-पर गुरुता की निशानी कोई नहीं है।

क्रियाकाण्ड वही उपयोगी है जिससे जगत की सेवा होती हो, जगत का कुछ लाभ होता हो। किसी तरह से असाधारणता बतला कर लोगों को चमकाना, उनका ध्यान अपनी तरफ़ खींचना और इस प्रकार अपनी पूजा कराना एक प्रकार का दंभ है। इस का गुरुता से कोई सम्बन्ध नहीं। इसलिये गुरुता के लिये

व्यर्थ क्रियाकाण्ड है ।

कष्ट-सहन भी पर-सेवा मे उपयोगी होना चाहिये । निरर्थक कष्ट-सहन का कोई मूल्य नहीं हाय हाय, ये कितना कष्ट सहते है अपन तो इतना नहीं सह सकते, ऐसा आश्चर्य निरर्थक कष्ट-सहन के विषय मे नहीं करना चाहिये ।

कोई कोई सार्थक क्रियाएं भी होती है, जैसे सेवा, विनय आदि । ये साधुता के चिह्न है अपने से अधिक मात्रा मे हों तो गुरुता के चिह्न बन सकते है ।

विद्वत्ता भी गुरुता का चिह्न नहीं है । अनेक भाषाओ का ज्ञान वक्तृत्व, लेखन, कवित्व, धर्म दर्शन इतिहास पदार्थ विज्ञान गणित ज्योतिष आदि का पांडित्य यश और सन्मान की चीज़ है पर इसका गुरुत्व से सम्बन्ध नहीं है । इससे मनुष्य शिक्षक हो सकेगा-गुरु नही । गुरुता का सम्बन्ध सदाचार और सेवा से है ।

पर इसका यह मतलब नहीं है कि गुरु मे विद्वत्ता न होना चाहिये । विद्वत्ता तो होना चाहिये । भले ही वह विद्वत्ता पुस्तक पढ़कर न आई हो-प्रकृति को पढ़कर आई हो । बिना ज्ञानके गुरुत्व मिल नही सकता-न टिक सकता है ।

अपना असली गुरु तो मनुष्य स्वयं है पर हरएक को कल्याण-मार्ग का पूरा परिचय नहीं होता कभी कभी जटिल समस्याएँ आकर किंकर्तव्य-विमूढ़ बना देती है, कभी कभी समझते हुए भी खुद पर अंकुश रखना कठिन होता है इसके लिये अधिकांश मनुष्यो को गुरु की आवश्यकता होती है पर गुरु बनाना ही चाहिये-ऐसा कोई नियम नही है । **जिन में सदसद्विवेक काफ़ी है और मनकी उद्दाम वृत्तियों पर भी अंकुश है उन्हें गुरु की कोई ज़रूरत नहीं ।** गुरु मिल जाय तो अच्छा, न मिले तो गुरुहीन जीवन अच्छा, पर कुगुरु-सेवा अच्छी नही । भूख से आदमी इतनी जल्दी नहीं मरता जितनी जल्दी विष खाकर मरता है । गुरुहीन से कुगुरु-सेवक की हानि कई गुणी है ।

**प्रश्न**–गुरु का तो नाश ही करना चाहिये । गुरु के होने से गुरुडम फैलता है, धर्म के नाम पर अत्याचार शुरू होते है, समाज का बोझ बढ़ता है । आखिर गुरु की ज़रुरत ही क्या है ?

**उत्तर**–वैधानिक आवश्यकता नहीं है । अमुक आदमी को गुरु मानना ही चाहिये या गुरु का पद होना ही चाहिये यह नियम भी नहीं है । । गुरुडम फैला है वेष और पद को अधिक महत्व देने से । सो नही देना चाहिये । जब गुरु के योग्य गुण दिखे तभी गुरु मानना चाहिये । हमारे सम्प्रदाय का आचार्य है, मुनि है, अमुक वेष में रहता है इसलिये हमारा गुरु है जब यह नियम टूट जायगा तब गुरुडम न फैल पायगा । गुरुडम शब्द ऐसे गुरुवाद के लिये प्रचलित है जिस में गुरु पद-वेष आदि के कारण भक्तोपर अनुचित अधिकार रखता है या उस अधिकार का दुरुपयोग करता है, साधुताहीन जीवन बिताता है, छलकर लोगो की सम्पत्ति लूटता है और उससे मौज करता है, उन्हे अन्धश्रद्धालु बनाता है । ऐसे गुरुडम का नाश अवश्य करना चाहिये । पर जहाँ ज्ञान, त्याग, सेवा, विवेक हैं वहाँ गुरुत्व माना जाय तो कोई हानि नही है बल्कि लाभ है ।

**प्रश्न**–लाभ क्या है ?

**उत्तर**–अज्ञान के कारण कोई अच्छी बात हमारी समझमे नहीं आती तो वह समझाता है,

कुमार्ग में जाने से रोकता है, प्रमाद दूर करता है, साहस देता है, धैर्य की रक्षा करता है, विपत्ति में सहायक होता है और भी जो उचित सेवाएँ हो सकती हैं-करता है।

**प्रश्न**–गुरु और शिष्य में अन्तिम निर्णय कौन करे? अगर शिष्य की चलती है तो गुरु गुलाम बन जाता है फिर वह उद्धार क्या करेगा और गुरु की चलती है तो गुरुडम फैलता है।

उत्तर–यह तो राज़ी राज़ी का सौदा है। दोनों अपनी अपनी जगह स्वतन्त्र हैं, शिष्य को गुरु की परीक्षा करने का पूर्ण अधिकार है इसलिये गुरुडम फैलने की बहुत कम सम्भावना है और सच्चा गुरु शिष्य की पर्वाह नहीं करता वह उसके हित की पर्वाह करता है। इसलिये गुरु के गुलाम होने की सम्भावना नहीं है।

**प्रश्न**–गुरु की परीक्षा कैसे होगी? जो दोष अपने में हैं उन्हें दूसरे में निकालना कहाँ तक उचित है?

उत्तर–ईर्षा द्वेष आदि के वश होकर किसी के दोष न निकालना चाहिये पर किसी पर कोई जिम्मेदारी डालना है तो उसमें उस जिम्मेदारी को सँभालने की योग्यता है या नहीं इसकी जाँच तो करना ही चाहिये। हो सकता है कि जो दोष उसमें है वह दोष अपने में उससे अधिक हो और अपने दोषों की संख्या भी अधिक हो फिर भी हम उसके दोष निकालेंगे क्योंकि उससे हमें अमुक योग्यताका काम लेना है, अध्यापक अगर अध्यापक के योग्य नहीं है तो इतने से ही वह संतोष नहीं हो सकता कि विद्यार्थी तो और कम जानता है। गुरु को गुरु के योग्य बनना चाहिये। जो जिस पद पर है उसे उस पद के योग्य बनना ज़रूरी है। इस प्रकार गुरु की पूर्ण परीक्षा कर गुरु-मूढ़ता का हर प्रकार त्याग करना चाहिये। साधक गुरु-मूढ़ता से सदा दूर रहता है।

**शास्त्र-मूढ़ता**–साधक में शास्त्र--मूढ़ता भी नहीं होती। **परम गुरुओं या गुरुओं के वचन शास्त्र हैं**। जब हम गुरुओं की परीक्षा करते हैं तो शास्त्र की भी परीक्षा करना आवश्यक है।

**प्रश्न**–गुरुओं की परीक्षा करने से काम चल जाता है फिर शास्त्रों की परीक्षा करने की क्या ज़रूरत है? ख़ासकर परम गुरुओं के वचनों की परीक्षा करना तो और भी अनावश्यक है।

**उत्तर**–इसके पांच कारण हैं। १ गुरु-परोक्षता, २ परिस्थिति-परिवर्तन, ३ शब्द-परिवर्तन, ४ अर्थ-परिवर्तन, ५ अविकास।

शास्त्र के समय गुरु या तो स्वर्गीय हो जाते हैं या बहुत दूर हो जाते हैं। जब गुरु नहीं मिलते तब हम उनके वचनों से काम चलाते हैं। ऐसी हालत में गुरु की परीक्षा करने का ठीक ठीक अवसर ही नहीं मिल पाता तब सत्यासत्य की जाँच करने के लिये उनके वचनों की परीक्षा करना आवश्यक है। परम गुरु का मतलब है ऐसा महान विश्वगुरु जो देव कोटि मे जा पहुंचा है अर्थात् व्यक्तिदेव। व्यक्तिदेव की भी परीक्षा करना ज़रूरी है क्योंकि ऐसा भी हो सकता है कि अयोग्य व्यक्ति भी कारणवश व्यक्तिदेव मान लिया गया हो। इस प्रकार किसी के भी वचन हों उनकी यथासम्भव जाँच तो होना ही चाहिये। परोक्ष होने के कारण गुरु की जाँच नहीं हो सकती तो उसके वचन की जाँच आवश्यक है।

परिस्थिति के बदलने से भी शास्त्र की बहुत सी बातें आग्रह्य हो जातीं हैं। जो बात एक समय के लिये जनकल्याणकर होती है वही दूसरे समय के लिये हानिकर या अनावश्यक हो जाती है। इस में शास्त्र का दोष नहीं है यह प्रकृति का ही परिणाम है। उस परिस्थिति के विचार से भी शास्त्र की परीक्षा आवश्यक है।

याद रखने में या काग़ज़ आदि पर नकल करने या छापने में शास्त्रों के शब्द बदल जाते है इस प्रकार शास्त्र ज्यों के त्यों नहीं रह पाते इसलिये शास्त्र की परीक्षा आवश्यक है।

कभी कभी शब्द तो नहीं बदलते पर अर्थ बदल जाता है। कुछ तो बहुत समय बीत जाने से शब्दों का वास्तविक अर्थ माळूम नहीं रहता जैसा कि वेदों के विषय मे है। और कुछ लक्षण व्यंजना आदि से अर्थ बदल दिया जाता है। यही कारण है कि एक ही पाठ के नाना अर्थ हो जाते हैं और उन अर्थों के सम्प्रदाय भी चल जाते हैं इसलिये भी शास्त्र की परीक्षा आवश्यक है।

शास्त्रकार—फिर वे गुरु या परम गुरु कोई भी हों—ऐसे सर्वज्ञ नहीं हो सकते कि जिनके ज्ञान को ज्ञान की सीमा कहा जा सके। ऐसा सर्वज्ञ कोई भी नहीं हो सकता। वह अपने ज़माने के अनुरूप महान ज्ञानी हो सकता है। पर उसके बाद जगत में ज्ञान की वृद्धि स्वाभाविक है। संयम का विकास भले ही न हो पर ज्ञान का विकास सहज ही होता है और हो रहा है। इसलिये शास्त्रों में ऐसी बहुत सी बातें आ जातीं हैं जो आज तथ्यशून्य कही जा सकतीं है। इस में शास्त्रकारों का अपराध नहीं होता क्यों कि उनने तो अपने ज़माने में जितना तथ्य मिल सकता था उतना तथ्य लिख दिया। अब आज अगर ज्ञान का विकास हो जाने से पुरानी मान्यताएं अतथ्य हो गईं है तो उन्हें बदल देना चाहिये। शास्त्रकार जितना कर सकते थे किया, अब हमे कुछ आगे बढ़ना चाहिये और शास्त्रकारो ने जितनी सामग्री दी उसके लिये उनका कृतज्ञ होना चाहिये और कृतज्ञतापूर्वक उनके वचनों की परीक्षा करना चाहिये।

जहां परीक्षकता है वहां शास्त्र-मूढ़ता नहीं रहती, परीक्षकता के विषय में और शास्त्र के उपयोग के विषय में पहिले अध्याय में जो कुछ लिखा गया है उस पर ध्यान देने से और उसे जीवन में उतारने से शास्त्र-मूढ़ता दूर हो जाती है फिर भी स्पष्टता के लिये कुछ कहना ज़रूरी है।

शास्त्र मूढ़ता के कारण नाना तरह के मोह है। १ स्वत्वमोह, २ प्राचीनता-मोह, ३ भाषा-मोह ४ वेष-मोह आदि।

अपने सम्प्रदाय के, जाति के, प्रान्त के और देश के आदमी की बनाई यह पुस्तक है इसलिये सत्य है यह स्वत्व-मोह है। स्वर्गीय विद्वान की बनाई यह पुस्तक है इसलिये सत्य है यह प्राचीनता-मोह है। यह पुस्तक संस्कृत प्राकृत अरबी फारसी लेटिन भाषा की है इसलिये सत्य है यह भाषा-मोह है। यह पुस्तक जिसने बनाई है वह संन्यासी था मुनि था फकीर था इसलिये सत्य है यह वेष-मोह है। ये सब मोह शास्त्र-मूढ़ता के चिह्न है। बहुत से लोग किसी पुस्तक को इसीलिये शास्त्र कह देते है कि वह पुस्तक संस्कृत आदि किसी प्राचीन भाषा मे बनी है, अपने सम्प्रदाय की है और बनाने वाला मर गया है यह मान्यता शास्त्र-मूढ़ता का परिणाम है। इस प्रकार शास्त्रमूढ़ता के और भी रूप हैं उन सब

का त्याग करना चाहिये और शास्त्र की यथा-साध्य परीक्षा करके उसका उपयोग करना चाहिये।

**प्रश्न**–परीक्षा करके ही अगर शास्त्र माने जाँय तो शास्त्र की उपयोगिता ही नष्ट हो जायगी शास्त्र की परीक्षा का अर्थ है उसमें लिखे हुए विषयों की परीक्षा। जिज्ञासु उनकी परीक्षा कैसे करे ? जाने तो परीक्षा करे परीक्षा करे तो जाने, फिर पहिले क्या हो ?

**उत्तर**--यहाँ एक तीसरी चीज़ भी है-मानना। पहिले जाने, फिर अपने अनुभव तथा अन्य ज्ञान के आधार से परीक्षा करे फिर माने। परीक्षा करके मानने की ज़रूरत है--जानने की नहीं। जानना तो पहिले भी हो सकता है।

**प्रश्न**–जो शास्त्र की परीक्षा कर सकता है उसे शास्त्र की ज़रूरत क्या है ? जिस बुद्धि-वैभव से वह शास्त्र की परीक्षा कर सकता है उसी से वह शास्त्र में वर्णित विषय क्यों न जाने ?

**उत्तर**--परीक्षा में उतने बुद्धि-विभव की ज़रूरत नहीं होती जितनी शास्त्र के निर्माण में। निर्माता को अप्राप्त वस्तु प्राप्त करना पड़ती है, परीक्षक को प्राप्त वस्तु की सिर्फ़ जाँच करना पड़ती है। प्राप्त वस्तु को जाँचना सरल है पर उसका निर्माण या अर्जन कठिन है इसलिये हर एक आदमी शास्त्र-निर्माता नहीं हो सकता पर परीक्षक हो सकता है।

**प्रश्न**--परीक्षक बनने के लिये कुछ विशेष ज्ञान की आवश्यकता है पर बिना परीक्षा किये किसी की कोई बात मानना ही न चाहिये ऐसी हालत में विशेष ज्ञान कैसे मिलेगा ? बालक का भी कर्तव्य होगा कि वह माँ बाप की बात परीक्षा करके माने, इतना ही नहीं किन्तु माँ भी परीक्षा करे ? जब सरस्वती माता की की जाती है, गुरु की परीक्षा की जाती माँ बाप की परीक्षा क्यों नहीं ? पर इस परीक्षकताऽद्वैत से क्या जगत का च सकता है ?

**उत्तर**--दुनिया दुरंगी है, भीतर तथा बाहर कुछ और इसलिये परीक्षक मनुष्य की गुजर नहीं हो सकती ? जन्म से विश्वासी होता है, दूसरों से व पर वह परीक्षक बनना सीखता है। इस के अनुभव ज्यों ज्यों बढ़ते जाते हैं त्यों परीक्षक बनता जाता है और जहाँ बन पाता वहां विश्वास से काम लेता है। म जीवन व्यवहार विश्वास और परीक्षा के चलता है जहां अपनी गति हो वहां करना चाहिये, बालक माँ बाप की बात की करते हैं और माँ बाप की भी परीक्षा जब बालक माँ बाप की बात का भी नहीं करता है तब समझना चाहिये कि परीक्षकता है। हरएक आदमी माँ बाप नहीं कहता, विशेष आकृति स्वर माँ बाप को पहिचानता है--यह माँ परीक्षा है। जैसी उसकी योग्यता है वैसी कता है। प्रारंभिक शिक्षण में विश्वास लेना ही पड़ता है और परीक्षकता का भी कुछ नियमों के अनुसार करना परीक्षा करने में तीन बातों का विचार चाहिये:—

१ वस्तु का मूल्य २ परीक्षा की वना की मात्रा, ३ परीक्षा न करने से की मर्यादा।

१ सोना चाँदी आदि की जितनी परीक्षा की जाती है उतनी साधारण पत्थरों की नहीं। उसी प्रकार गुरु शास्त्र देव आदि की जितनी परीक्षा की जाती है उतनी अन्य सम्बंधियों की नहीं, क्योंकि गुरु शास्त्र आदि पर लोक-परलोक का कल्याण निर्भर है।

२ शास्त्र गुरु आदि की परीक्षा जितनी सुसम्भव है उतनी माता पिता आदि की नहीं। सम्भव है माता पिता कहलानेवाले माता पिता न हो कुछ संकरता हो, शैशव में उनने अपना लिया हो, तो हमारे पास ऐसे चिह्न नहीं है कि उनकी ठीक ठीक जाँच कर सके। इस लिये माता पिता की असलियत की जाँच कम की जाती है।

३ माता पिता अगर असली न हों तो भी उससे कोई विशेष हानि नहीं है पर गुरु शास्त्र आदि के विषय में ऐसी उपेक्षा नहीं की जा सकती। उनके असत्य होने से जीवन नष्ट हो सकता है।

शास्त्र की परीक्षा में सरस्वती माता का अपमान न समझना चाहिये। सरस्वती तो सत्यमयी है और शास्त्र के नाम पर तो सत्य-असत्य सभी चलता है, उसकी परीक्षा करके सत्य को खोज निकालना सरस्वती की खोज करना है उसकी परीक्षा करके उसका अपमान नहीं। सत्य की खोज करना भगवान सत्य का अपमान नहीं सन्मान है। परीक्षा को अपमान नहीं समझना चाहिये। इसलिये शास्त्र-परीक्षा अवश्य करना चाहिये। हां, जहां अपना बुद्धि-वैभव काम न दे वहां विश्वास से काम लें फिर भी इतना तो समझ ही लेना चाहिये कि वह प्रमाण-विरुद्ध तो नहीं है, देशकाल को देखते हुए सम्भव है या नहीं? जब विरोध समझ में आ जाये तब मोहवश असत्य को अपनाये न रहे।

इस प्रकार शास्त्रों की परीक्षा करके शास्त्र-मूढ़ता का त्याग करना चाहिये।

**देव-मूढता**—जीवन का आदर्श देव है। जीवन के आदर्शरूप में जब हम किसी तत्व को अपनाते हैं तब वह **गुणदेव** कहलाता है, जब किसी व्यक्ति को अपनाते है तब उसे **व्यक्ति-देव** कहते है। सत्य अहिंसा आदि गुणदेव हैं, राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, ईसा मुहम्मद, जरथुस्त आदि व्यक्तिदेव हैं। गुणदेवों को जीवन मे उतारना व्यक्ति-देवों के जीवन से शिक्षा लेकर उन का उचित अनुकरण करना, उनके विषय में अपनी भक्ति बताने के लिये आदर, पूजा, सत्कार स्तुति करना, यह सब देवों की उपासना है। साधक ऐसी देवोपासना तो करता है पर वह देव-मूढ़ता का परिचय नहीं देता। देव—मूढ़ता पाँच तरह की है १ **देव-भ्रम** अदेव को देव मानना २ **रूप-भ्रम** देव का स्वरूप विकृत या असत्य कल्पित करना ३ **कुयाचना** अनुचित मांग पेश करना ५ **परनिंदा** एक देव की पूजा के लिये दूसरे देव की निन्दा करना।

१—भय से, मोह से और अन्ध-श्रद्धा से किसी को देव मानना **देवभ्रम** है। जैसे भूत पिशाच शीतला आदि को देव मानना उनकी पूजा करना। पहिले तो भूत पिशाच आदि कल्पना रूप हैं। एक तरह के शारीरिक विकारो को लोग भूतावेश कहने लगते है पर अगर ये हों भी, तो भी इन्हें देव मानना देवभ्रम है। क्योंकि ये आततायी है-आदर्श नहीं। अगर ये उपद्रव करें तो इन्हें दंड देना चाहिये। दंड नहीं दे सकते तो इसका यह मतलब नही है कि इन्हे देव माना जाय।

शनैश्चर आदि ग्रहों को देव मानना भी देवभ्रम है। अनन्त आकाश में घूमनेवाले ये भौतिक पिंड कोई प्राणी नहीं हैं कि इन्हें देव माना जाय। इनकी गतिका जीवन पर ऐसा प्रभाव नहीं पड़ता जैसा कि लोग समझते हैं। वायुमण्डल आदि पर कोई प्रभाव पड़ता भी हो तो भी इन्हें देव मानने की जरूरत नहीं है। अगर इनका कोई दुष्प्रभाव होता हो तो उससे बचने के लिये हमें कोई चिकित्सा करना चाहिये, इनकी पूजा करना और इन्हें खुश करने की कल्पना से इनके दुष्प्रभाव से बचने की आशा करना मूढ़ता है। इस मूढ़ता से बड़ी भारी हानि यह है कि मनुष्य योग्य चिकित्सा से वञ्चित हो जाता है और अयोग्य चिकित्सा में अपव्यय करता है इस प्रकार दुहरी हानि उठाता है।

**प्रश्न**—ईश्वर भी एक कल्पना है तो क्या उसे मानना भी देवभ्रम समझा जाय?

**उत्तर**—भय से, मोह से और अन्ध श्रद्धा से ईश्वर मानना देवभ्रम है पर विचारपूर्वक ईश्वर मानना और किसी तरह की अनुचित आशा नहीं रखना देवभ्रम नहीं है। जगत्कर्ता ईश्वर कल्पित भी हो तो भी यदि उसका दुरुपयोग न किया जाय तो देवभ्रम नहीं है। जैसे पाप करना और ईश्वर की पूजा करके पाप के फल से छुटकारा मानना यह ईश्वर का दुरुपयोग है। पर उसे पूर्ण न्यायी मान कर पाप से बचते रहना ईश्वर का सदुपयोग है। इससे मनुष्य का कल्याण है इसलिये अगर ईश्वर कल्पित भी हो तो भी उसकी मान्यता सिर्फ़ अतथ्य होगी-असत्य नहीं।

दूसरी बात यह है कि गुणमय ईश्वर कल्पित भी नहीं है। सत्य अहिंसा आदि गुणों का पिंड ईश्वर विश्वव्यापी है, घट घट वासी है, अनुभव में आता है, बुद्धि-सिद्ध भी है उसे मानना तथ्य भी है और सत्य भी है इसलिये ईश्वर की मान्यता देव-मूढ़ता नहीं है।

**प्रश्न**—मूर्ति को देव मानना तो देवभ्रम अवश्य है। क्योंकि मूर्ति तो पत्थर आदि का पिंड है। वह देव कैसे हो सकता है?

**उत्तर**—मूर्त्ति को देव मानना देवभ्रम है पर मूर्त्ति में देव की स्थापना करना देवभ्रम नहीं है। अपनी भावना को व्यक्त करने के लिये कोई न कोई प्रतीक रखना उचित है। जैसे कागज़ और स्याही को (पुस्तकों को) ज्ञान समझना भ्रम है पर उसमें ज्ञान की स्थापना करके उसके द्वारा ज्ञानोपार्जन करना भ्रम नहीं है। हाँ, जब हम कला आदि का विचार न करके अन्ध-श्रद्धा-वश किसी मूर्तिविशेष में अतिशय मानते हैं, उसे देव को पढ़ने की पुस्तक न समझ कर देव ही समझने लगते हैं तब यह देवभ्रम हो जाता है। कोई मूर्ति सुन्दर और कलापूर्ण है तो उस दृष्टि से उसका महत्त्व समझो, अगर उसका कोई अच्छा इतिहास है तो ऐतिहासिक दृष्टि से उसे महत्त्व दो पर उसमें दिव्यता की कल्पना मत करो, उसे देव मत समझो देवमूर्त्ति समझो।

**प्रश्न**—मूर्ति द्वारा देव की उपासना करते समय अगर हम मूर्त्ति को न भुला सकें तो देव की उपासना ही न हो सकेगी। मूर्त्ति को भुला देने पर देवत्व ही देवत्व रह जायगा पर मूर्त्ति की जगह देवत्व को आप भ्रम कहते हैं।

**उत्तर**—मूर्त्ति द्वारा देव की उ[illegible]न करते समय मूर्त्ति को भुला देना ही ठीक [illegible] सना है मूर्त्ति को याद रखना उपासना की [illegible] है। देव की उपासना में देव ही याद [illegible] न चाहिये उसका आधार नहीं। जितने अंश अवलम्बन [ मूर्त्ति वगैरह ] याद आता है [illegible]

अंश में वह देवोपासना नहीं है। जिस प्रकार अक्षरों की आड़ी टेढ़ी आकृतियों को देखते हुए और उनका उपयोग करते हुए भी उन्हें भुलाकर अर्थ पर विचार करना पड़ता है उसी प्रकार मूर्त्ति के सामने मूर्त्ति के रूप को भुलाकर देव का रूप याद करना पड़ता है। इस में अदेव को देव नहीं माना गया है जिससे देवभ्रम कहा जा सके।

२ देव के वास्तविक और मुख्य गुणों को भुलाकर कल्पित निरुपयोगी गुणों को मुख्यता देना उनका रूप बदल कर उसका वास्तविक उपयोग न होने देना आदि **रूपभ्रम** है। जैसे अमुक महात्मा के शरीर मे दूध सरीखा खून था, ब्रह्मा विष्णु महेश उसका धात्री कर्म करने आये थे, वह बैठे बैठे अधर चला जाता था, वह समुद्र को हुक्म देकर शान्त करता था, वह उँगलीपर पहाड़ उठाता था, उसके चार मुँह दिखते थे, ये एक प्रकार के सब रूप-भ्रम है। दूसरे प्रकार के रूपभ्रम वे हैं जिनमें सम्भव किंतु महत्त्वशून्य बातों को महत्त्व दिया जाता है। जैसे महात्माओं की लोकोपकारकता आदि को गौण करके उनके असाधारण सौन्दर्य आदि को महत्त्व देना। हो सकता है कि वे सुन्दर हों पर वे महात्मा होने के कारण सुन्दर थे यह बात नहीं है। भक्ति के आवेश में ऐसी बातों को इतना महत्त्व न देना चाहिये कि उनके महात्मा-पन के चिह्न दब जाँयँ। तीसरे प्रकार का रूप-भ्रम वह है जिस में महात्माओं को उनके जीवन से बिलकुल उल्टा चित्रित किया जाता है जैसे किसी निष्परिग्रह साधु की मूर्त्ति को—जो नग्न तक रहा हो—गहने पहिनाना आदि। ये सब रूपभ्रम देव-मूढ़ता के ही एक रूप हैं।

**प्रश्न**—आलंकारिक वर्णन में थोड़ी अति-शयोक्ति हो ही जाती है। अगर उन्हें देव-मूढ़ता कहा जायगा तब तो काव्य की इति-श्री ही हो जायगी।

**उत्तर**—अलंकार अलंकाररूप में काम में आवें तो कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि उससे अर्थ में कोई कमी नहीं होती बल्कि अर्थ स्पष्ट होता है। मुख को चन्द्रमा कहने से सुन्दरता ही मालूम होती है उसे प्रकाश समझ कर रात में दीपक नहीं बुझाये जाते। दुःख का पहाड़ उठा लिया, विपत्ति के समुद्र को पी गया या पार कर गया आदि अलंकार वाक्य के अर्थ को सुन्दर और साफ़ बनाते है इसलिये अलंकार के उपयोग में मूढ़ता नहीं है। मूढ़ता है अलंकार को इति-हास या विज्ञान समझने में। पुराणों में आये हुए बहुत से वर्णन इसी प्रकार के आलंकारिक हैं उनका वास्तविक अर्थ पहिचान लेने पर मूढ़ता नहीं रहती।

३ तीसरी देव-मूढ़ता है कुयाचना। देवो-पासना का मतलब उनके गुणों को या आज्ञाओं को अपने जीवन में उतारना है जिससे हमारा उद्धार हो। भक्ति-मय भाषा में हम यह भी कह सकते है कि तुम हमारा उद्धार करो, जगत में शान्ति करो, हमारे पापों को दूर करो आदि इसका मतलब यही कि हम आप का अनुसरण करें जिससे हमारा उद्धार हो आदि। यह कुयाचना नहीं है। पर जहां अपने कर्तव्य की भावना तो है नहीं, सिर्फ़ देव को खुश करके धन की स्वास्थ्य की, सन्तान की, विजय की, शत्रु-क्षय की याचना है वह कुयाचना है। देव--पूजा अपने कर्तव्य को समझने और उसका पालन करने और उसपर दृढ़ रहने के लिये होना चाहिये, मुफ्त-

खोरी के लिये नहीं। कुयाचना करने से वह पूरी नहीं होती, सिर्फ़ अपनी क्षुद्रता और असंयम का पता लगता है। कुयाचना देव-मूढ़ता का परिणाम है।

**प्रश्न**—व्यक्तिदेवों की उपासना में उनके जीवन का अनुकरण लक्ष्य हो सकता है पर ईश्वर की उपासना में क्या ध्येय होगा? ईश्वर का अनुकरण तो किया नहीं जा सकता। उससे छोटी बड़ी सभी चीज़ों की याचना ही की जा सकती है। प्राणी तो ईश्वर के आगे सदा भिखारी है। उससे याचना क्या और कुयाचना क्या?

**उत्तर**—जगदीश्वर एक ही हो सकता है इसलिये हरएक आदमी जगदीश्वर नहीं बन सकता फिर भी उसका अनुकरण कर सकता है। ईश्वर सर्वगुण-भंडार है इसलिये जिस गुण का जितने अंशों में अनुकरण हो उतना ही अच्छा है। उसके सामने सिर झुकाने में उसके शासन के विषय में श्रद्धा प्रगट होती है और इससे उसकी व्यवस्था-नीति धर्म को बनाये रखने की इच्छा पैदा और प्रगट होती है उससे अपने विकास की या आत्मबल की ही याचना करना चाहिये--दया क्षमा की नहीं। प्रार्थना में अगर भक्तिवश दया क्षमा के शब्द आ भी जाँय तो इतना ही समझना चाहिये कि हम अपने पापों को स्वीकार कर रहे हैं और पश्चात्ताप प्रकट कर रहे हैं। ईश्वरीय न्याय को बदलना नहीं चाहते। वास्तव में कोई मनुष्य ईश्वर का अपराध नहीं करता, नहीं कर सकता, वह अपराध करता है उसकी सन्तान का अर्थात् हमारा तुम्हारा, उसका न्याय होना ही चाहिये। इसलिये न्याय से बचने की याचना कुयाचना है। हाँ पाप करने से दूर रहने की और संकट सहने की याचना सुयाचना है वह माँगना चाहिये। ईश्वर के आगे इतना ही भिखारीपन सार्थक है।

**प्रश्न**—धन सम्पत्ति आदि की याचना भी देवोपासना से सफल होती है। देवोपासना से पुण्य होता है और पुण्य से ऐहिक लाभ मिलते हैं फिर मनुष्य वह याचना क्यों न करे? अथवा उसे कुयाचना क्यों कहा जाय?

**उत्तर**—देवोपासना से पुण्य होगा तो उस का फल आगे मिलेगा इससे पुराने पाप का फल कैसे नष्ट हो जायगा? दूसरी बात यह है कि देवोपासना से ही पुण्य नहीं हो जाता, पुण्य होता है देवोपासना के सत्प्रभाव--नीति सदाचार आदि को जीवन में उतारने से, प्रतिक्रमण आदि तप करने से। ये न हों तो देव--पूजा क्षणिक आनन्द देने के सिवाय और कुछ नहीं कर सकती। तीसरी बात यह है कि हरएक कारण से हरएक कार्य नहीं हो सकता इसलिये देव-पूजा शारीरिक चिकित्सा का काम नहीं कर सकती। बीमारी में या संकट में देव-पूजा से सहने की ताकत आ सकती है, मन को बल मिल सकता है पर वैद्य का काम पूरा नहीं हो जाता। देव-पूजा से निःसन्तानता का कष्ट सहा जायगा विश्व-बन्धुत्व पैदा होकर संतान--मोह दूर हो जायगा पर सन्तान पैदा न हो जायगी। इसलिये कुयाचना न करना चाहिये।

४ चौथी देव-मूढ़ता दुरुपासना है। संयम को नष्ट करनेवाली उपासना दुरुपासना है। जैसे देवता के नाम पर पशुवध करना मद्यपान करना मांस-भोजन करना, व्यभिचार करना, आत्मघात करना [ पहाड़ से गिर पड़ना जल में डूब मरना आदि ] नरमेध यज्ञ आदि भी इसी मूढ़ता में शामिल हैं।

प्रश्न–कोई कोई देव ऐसी तामस प्रकृति के होते है जो ऐसे ही कार्यों से खुश होते है। उनकी उपासना के लिये ये कार्य करना ही पड़ते है-अन्यथा वे परेशान करते है।

**उत्तर**–पहिले तो ऐसे कोई देव हैं ही नहीं जो माँस आदि चाहते हों। यह सब हमारी लोलुपता का परिणाम है। अगर हों तो उन्हें पूजना न चाहिये। देव तो प्राणिमात्र के देव है वे पशुओ के भी देव हैं। जगदम्बा पशुओं की भी अम्बा है वह अपने लिये अपने पुत्रों का बलिदान कैसे चाहेगी ? सच्चे देव पाप नहीं कराते। पाप करानेवाले देव कुदेव हैं। जो अपने लिये आदर्श नही है और देवरूप में माने जाते है वे **कुदेव** हैं। उनकी उपासना न करना चाहिये।

५ पाँचवीं देवमूढ़ता है परनिन्दा। सम्प्रदाय आदि के मोहवश दूसरे सुदेवों की निन्दा करना पर-निन्दा है। अगर किसी देव के विषय में तुम्हारा ख़ास आकर्षण है तो उस की खूब उपासना करो पर दूसरे देवो की निन्दा न करना चाहिये और न ऐसी प्रार्थना पढ़ना चाहिये जिससे उनकी निन्दा होती हो।

**प्रश्न**–इस तरह तो दो व्यक्ति-देवों में तुलना करना कठिन हो जायगा क्योंकि तुलना में तरतमता सिद्ध होना स्वाभाविक है। जिसका स्थान कुछ नीचा बनाया जायगा उसी की निंदा हो जायगी और इसे आप देव-मूढ़ता कह डालेंगे।

**उत्तर**–निष्पक्ष आलोचना में परनिंदा नहीं होती। परनिन्दा मोह का परिणाम है, आलोचना मोह का परिणाम नहीं है। तुलना करना चाहिये पर वह मोह और अहंकार का कारण या फल न होना चाहिये। साथ ही तुलना करने की बिमारी भी न होना चाहिये। जब विशेष आवश्यकता हो तब ही तुलना करना चाहिये फिर परनिन्दा का दोष नहीं रहता।

**लोकमूढ़ता**–विना समझे या विना पर्याप्त कारण के लोकाचार का पक्षपात होना लोकमूढ़ता है। रीतिरिवाज़ किसी अवसर पर किसी कारण से बन जाते है अगर कोई हानि न हो तो उनके पालन करने में बुराई नहीं है पर उन का पक्षपात न होना चाहिये। हमारे यहां ऐसे कपड़े पहिनते है, ऐसे बाल कटाते है ऐसा भोजन बनाते हैं, इस प्रकार सजाते हैं इस प्रकार अभिवादन करते है, विवाह विधि ऐसी होती है, जन्म मरण पर ऐसा करते हैं ऐसी बातों का पक्षपात प्रबल होना उसकी बुराई को न देख सकना उससे भिन्न लोकाचार की भलाई न देख सकना लोक-मूढ़ता है।

वेषभूषा मे स्वच्छता सुविधा आदि का विचार करना चाहिये। जिस में हमें सुविधा है उसमे दूसरों को असुविधा हो तो चिढ़ना न चाहिये। इसी प्रकार खानपान में रुचि, स्वास्थ्य, स्वच्छता, निर्दोषता आदि का विचार करना चाहिये इसी प्रकार हरएक लोकाचार को बुद्धि-संगत बनाकर पालन करना चाहिये।

**प्रश्न**– लोकाचार को बुद्धि-संगत बनाया जाय तो बड़ी परेशानी हो जायगी। आज दिल चला यूरोपीय पोषाक पहिन ली, कल लँगोटी लगा ली, परसो मारवाड़ी बन गये, किसी दिन महाराष्ट्री बन गये, किसी दिन पंजाबी बन गये। इस तरह का बहुरूपियापन क्या अच्छा है ? आखिर आदत भी कोई चीज़ है। उसके साथ बलात्कार करना कहाँ तक उचित है ?

उत्तर—लोक-मूढ़ता के त्याग के लिये बहुरूपिया बनने की ज़रूरत नहीं है न आदत के साथ बलात्कार करने की ज़रूरत है। ज़रूरत इतनी ही है कि रूढ़ियों की गुलामी छोड़ी जाय और सकारणक परिवर्तन के लिये तैयार रहा जाय। आज हमारे पास पैसा नहीं है, ठंड भी नहीं लगती तब कोट न पहिना तो अच्छा ही है, चादर ही ओढ़ लिया तो क्या बुराई है? अधिक भूषणों से शरीर मलिन रहता है असुविधा होती है तो रिवाज़ होने पर भी आभूषण न पहिने या कम पहिने तो अच्छा ही है। शरीर की ज़रूरत जैसी हो वैसी पोशाक कर लेना चाहिये। एक ज़माने में ब्राह्मण-वर्ण के निर्वाह के लिये जन्म मृत्यु के अवसर पर दान दक्षिणा भोजन आदि उचित था आज आवश्यकता नहीं है तो उस रूढ़ि का किसी न किसी रूप में पालन होना ही चाहिये यह गुलामी क्यों? रही आदत की बात सो आदत बुरी (स्वपर-दुःखकारक) न होना चाहिये फिर आदत के अनुसार कार्य करने में कोई बुराई नहीं है। अगर आदत बुरी है तब तो धीरे धीरे उसका त्याग करने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिये।

'हमारे बाप दादा क्या मूर्ख थे उनने रिवाज़ चलाया तो अच्छा ही होना चाहिये' इस प्रकार का आग्रह भी लोक-मूढ़ता है। क्योंकि बाप दादे हमारे उपकारी हो सकते हैं पर हमसे अधिक विद्वान थे ऐसा कोई नियम नहीं है। पर इससे भी अधिक महत्त्व की बात तो यह है कि बाप दादे विद्वान भी हों पर उनका कार्य उनके समय के लिये ही उपयोगी हो सकता है आज के लिये आज का युग देखना चाहिये। आज के रिवाज़ किसी न किसी दिन नये सुधार थे उन पुराने सुधारकों ने जब अपने समय के अनुसार रिवाज़ बनाते समय अपने पुरखों की पर्वाह नहीं की तो उनकी दुहाई देकर हमें क्यों करना चाहिये?

**प्रश्न**—बहुत से लोकाचार ऐसे हैं जिन के लाभ शीघ्र नहीं मालूम होते पर उनसे लाभ हैं ज़रूर। हर एक लोकाचार के विषय में छानबीन करने की हर एक आदमी को फ़ुरसत भी नहीं रहती इसलिये बहुत से लोकाचारों का बिना विचारे पालन करना पड़ता है। इसमें लाभ हो तो ठीक ही है नहीं तो हानि तो कुछ है ही नहीं। ऐसी हालत में इसे लोकमूढ़ता कैसे कह सकते हैं?

**उत्तर**—लोकाचार का पालन करना लोकमूढ़ता नहीं है पर विवेक छोड़कर हानिकर लोकाचार का पालन करना लोकमूढ़ता है। जिस विषय पर विचार नहीं किया है उसका पक्षपात न होना चाहिये और लोकाचार के दोषों पर जानबूझकर उपेक्षाभी न करना चाहिये। अवसर न मिलने से विशेष विचार न किया हो पर इतना विचार तो आवश्यक है कि इस लोकाचार से सत्य और अहिंसा में बाधा तो नहीं पड़ती। लौकिक हानि दूसरों की प्रसन्नता के लिये भले ही सहन करली जाय पर वह हानि ऐसी न होना चाहिये जिससे समाज के दूसरे लोगों को भी हानि का शिकार होना पड़े। जहां तक बने लोकाचार के संशोधन का प्रयत्न तो होते ही रहना चाहिये।

**प्रश्न**—मनुष्यता की उत्पत्ति का कारण बुद्धि भले ही हो पर उसकी स्थिरता का कारण संस्कार हैं। हम माँ बहिन बेटी को पवित्रता की दृष्टि से देखते हैं इसका कारण हमारे बौद्धिक विचार नहीं संस्कार हैं और इन संस्कारों का कारण लोकाचार है। संस्कार समझने से नहीं पड़ते किन्तु आसपास के लोगों के आचार से पड़ते हैं। और

यही लोकाचार है। इसलिये लोकाचार को कम महत्त्व देना ठीक नहीं।

**उत्तर**—लोकाचार की उपयोगिता अस्वीकार नहीं की जा सकती परन्तु उसका जितना महत्त्व है उतना ही उसका संशोधन आवश्यक है। जिस लोकाचार पर मनुष्यता-निर्मापक संस्कार तक अवलम्बित हों उसमे विवेक को स्थान न होना मनुष्यता को पशुता की तरफ़ ले जाना है। अच्छे अर्थात् कल्याणकारी लोकाचार को नष्ट करने की ज़रूरत नहीं है, ज़रूरत है देशकाल विरुद्ध अकल्याण-कर लोकाचार को बदलने की जिससे संस्कार अच्छे पड़ें।

लोकमूढ़ता का त्यागी रूढ़ियो का गुलाम न होकर उचित रूढ़ियो का पालन करेगा, देशकाल के अनुसार सुधार करने को तैयार रहेगा। इस प्रकार चारो तरह की मूढ़ताओं का त्यागी और निःपक्ष विचारक बनकर मनुष्य विवेकी बनता है जो कि योगी जीवन की पहिली शर्त है।

## २ धर्म-समभाव

योगी का दूसरा चिह्न है धर्म-समभाव। धर्म तो जगत में एक ही है उसे सत्य कहें, अहिंसा कहें, नीति सदाचार आदि कुछ भी कहें, पर उसके व्यावहारिक रूप असंख्य हैं। धर्म को पालन करने के लिये देश काल के अनुसार कुछ नियम बनाये जाते है उनको भी धर्म कहते है उनकी परम्परा भी चलती है इसलिये उन्हे सम्प्रदाय कहते हैं। धर्म, सम्प्रदाय, मत, मज़हब, रिलीज़न आदि शब्द उस नित्यधर्म-सत्य और अहिंसा के सामयिक दैशिक रूप के लिये प्रयुक्त होते है। हिन्दू धर्म, इस्लाम मज़हब, क्रिश्चियानिटी, जैन धर्म, बौद्ध धर्म आदि अनेक धर्म जगत में फैले है जो अपने अपने समय और अपने अपने देश के लिये हितकारी थे, और आज भी उनका बहुभाग जगत के लिये हितकारी है, उनकी विविधता परस्पर विरोधिनी नहीं है। इन धर्मों को पूर्ण सत्य समझना अथवा पूर्ण असत्य समझना भूल है। हरएक धर्म सामयिक सत्य है—सत्य का अंश है। उस मे से असत्य का अंश निकाल देना चाहिये आज के लिये आवश्यक सत्य जोड़ देना चाहिये और आदर के साथ उसका उपयोग करना चाहिये इस प्रकार का धर्म-समभाव पाये विना धर्म का मर्म समझ में नहीं आ सकता। धर्म-समभाव तीन तरह का होता है १ भक्तिमय २ उपेक्षामय ३ घृणामय।

१—भक्तिमय—सब धर्मों की अच्छी अच्छी बाते ग्रहण करके धर्मों के विषय मे आदर, प्रेम, भक्तिरूप भाव रखना।

२—उपेक्षामय—सब धर्म-संस्थाओं को निरर्थक संस्था समझना।

३—घृणामय—सभी धर्म-संस्थाओं को अनर्थ का मूल समझना और उनके नाश हुए विना जगत का अकल्याण समझना।

इन तीन में से पहिला समभाव श्रेष्ठ है। योगी को यही समभाव रखना चाहिये।

**प्रश्न**—धर्म के नाम पर जगत मे जितने अत्याचार हुए है शायद ही उतने अत्याचार किसी दूसरी चीज़ के नाम पर हुए हो। इसलिये धर्म से घृणा पैदा हो जाय तो क्या आश्चर्य है? क्रांति के चक्र में जब दुनियाभर के पाप पिसेंगे तब ये धर्म-नामक पाप भी पिसना ही चाहिये।

**उत्तर**—आज जो क्रान्ति है कल वही धर्म सम्प्रदाय आदि कहला सकती है। आज जो धर्म कहलाते है वे भी एक ज़माने की सफल क्रान्ति है। जैसे आज की क्रान्ति पाप नहीं है इसी प्रकार

एक समय की क्रान्ति ये धर्म भी पाप नहीं हैं। रही दुरुपयोग की बात सो दुरुपयोग किसका नहीं हुआ है? कलम से लिखने की बजाय कोई कोड़े मारा करे तो इसमें कलम बेचारी क्या करे? अति-भोजन या विकृत भोजन से कोई बीमार हो जाय या मर जाय तो भोजन घृणास्पद नहीं हो सकता सिर्फ़ उसकी 'अति' घृणास्पद हो सकती है। सच पूछो तो धर्म के लिये लड़ाई नहीं होती धर्म के नाम पर होती है। धर्म का नाम अपनी पाप-वासनाओं के लिये ओट बना लिया जाता है।

**प्रश्न**—पाप के लिये जो ओट का काम दे वह क्यों न नष्ट कर दिया जाय?

**उत्तर**—मकान अगर चोरों के लिये ओट का काम दे तो मकान गिराया नहीं जाता चोर ही ढूँढा जाता है। अगर कभी गिराने की आवश्यकता ही पड़ जाय तो फिर बनाना पड़ता है। आवश्यकतानुसार पुनर्निर्माण करना उचित है पर सर्वथा ध्वंस नहीं। सच पूछा जाय तो धर्म का ध्वंस हो नहीं सकता। ध्वंस ध्वंस चिल्लाकर हम सिर्फ़ हानि-कर क्षोभ पैदा करते हैं। हम धर्म के विषय में कितनी ही नास्तिकता का परिचय दें अगर हमारी नास्तिकता सबल है तो उसी के नाम पर विराट् आस्तिकता पैदा हो जायगी। महावीर और बुद्ध ने ईश्वरवाद के विषय में नास्तिकता का जो सफल प्रचार किया उसका फल यह हुआ कि उनके सम्प्रदायों में महावीर, बुद्ध, ईश्वर के आसन पर बिठला दिये गये। जिन देशों में धर्म की नास्तिकता सफल हुई है उन देशों में वे नास्तिकता के तीर्थंकर आज देवता की तरह पुज रहे हैं। उनकी क़ब्रोंपर हज़ारों आदमी प्रतिदिन सिर झुकाते हैं और नास्तिकता के गीत गाते हैं। मनुष्य के पास जब तक हृदय है तब तक उसके पास ऐसी आस्तिकता अवश्य है। मन्दिर, मसज़िद, चर्च, क़ब्र, शिला ध्वजा, मूर्ति, नदी, पहाड़, वृक्ष आदि प्रतीकों में ... वर्णन भले ही होता रहे पर इनमें से कोई न ... किसी रूप में रह कर आस्तिकता को ... रहता है। आस्तिकता इतनी प्रचंड है कि नास्तिकता को भी अपना भोजन बना लेती है जब तक हृदय है तब तक आस्तिकता है। ... को कोई नष्ट नहीं कर सकता। सिर्फ़ ... समय के लिये सुला सकता है। पर ... जागरण हुए बिना नहीं रहता। इसलिये ... नष्ट करने की चेष्टा व्यर्थ है। उसका ... न होने पावे सिर्फ़ इतनी ही चेष्टा करना चाहिये।

**प्रश्न**—दुरुपयोग हर एक चीज़ का होता यह ठीक है, पर धर्म का दुरुपयोग अधिक अधिक होता है। धन, बल, सौन्दर्य, आदि अहंकार की अपेक्षा धर्म का अहंकार प्रबल ... है। झगड़े आदि भी धर्म के लिये बहुत होते इन सब का असली कारण क्या है?

**उत्तर**— धर्म तो जगत में शान्ति प्रेम, आनन्द ही फैलाता रहा है। परन्तु मनुष्य ... जानवर है, बुद्धि अधिक होने से इस में ... करने की, पाप को छिपाये रखने या टिकाये ... की शक्ति अधिक आगई है। अहंकार इस ... सब से अधिक है। महत्त्वानन्द के लिये यह ... कुछ छोड़ने को तैयार हो जाता है। पर हर एक आदमी को यह आनन्द पर्याप्त मात्रा में ... मिलसकता जब कि लालसा तीव्र रहती ... इसलिये मनुष्य अनुचित कल्पनाओं से ... लालसा को सन्तुष्ट करने की चेष्टा करता ... उसी का फल है धर्म-मद। धन, जन और ... आदि का मद न तो अक्षुण्ण है न स्थिर। ...

धन है कल नहीं है, आज बल है कल बीमारी बुढ़ापा आदि से नहीं है इस प्रकार इन के मदों से मनुष्य को सन्तोष नहीं होता। तब वह धर्म और ईश्वर के नामपर मद करता है। हमारा धर्म सब से अच्छा, हमारा देव सब से अच्छा आदि। धर्म और देव बीमार नहीं होते, बुड्ढे नहीं होते और छिनते भी नहीं अर्थात् इन का नाम नहीं छिनता ( अर्थ से तो ऐसे अहंकारियों के पास ये फटकते भी नहीं हैं फिर मिलेंगे क्या ? ) इसलिये इन का अभिमान सदा बना रहता है और तुलना में क्षुण्ण भी नहीं होता। धन में तो लखपति का घमंड करोड़पति के आगे क्षुण्ण हो जाता है, बल आदि में भी यही बात है। पर ईश्वर और धर्म में तो तुलना करने की ज़रूरत ही नहीं है अन्धश्रद्धा के अँधेरे के कारण दूसरा दिखता ही नहीं फिर तुलना क्या ? तुलना तो सिर्फ़ कल्पना से की जाती है कि हम अच्छे सब खराब, क्योंकि हम हम है। इस प्रकार महत्त्वानन्द की अनुचित लालसा के कारण जो हमारे दिल में शैतान घुसा है वह ईश्वर और धर्म की ओट में ताण्डव कर रहा है। वास्तव में यह शैतान ( पाप ) का उपद्रव है धर्म या ईश्वर का नहीं।

**प्रश्न**-- धर्म का अपराध भले ही न हो पर उन मे समभाव नहीं रक्खा जा सकता क्योंकि सब धर्म एक से नहीं हैं, सब धर्मों के संस्थापक भी एक से नहीं है, सब शास्त्र भी एक नहीं हैं, किसी किसी धर्म में तो मनुष्यमात्र के प्रति प्रेम भी नहीं है। कुछ पुराने धर्म तो जिन में नीति सदाचार आदि अपने गिरोह तक ही सीमित है, दूसरे गिरोहवालों को लूट लेना मार डालना भी कर्तव्य समझते है ऐसी हालत में सर्व-धर्म-समभाव कैसे रक्खा जासकता है और रखना भी क्यों चाहिये ?

**उत्तर**-- सब धर्म समान नहीं हो सकते, होना भी नहीं चाहिये क्योंकि वे तो देशकाल के अनुसार बने हैं, देशकाल के भेद से उन में भेद भी है इसलिये विविधता से घबराना न चाहिये। रही तरतमता, सो थोड़े बहुत अंशों में वह रहेगी ही। तरतमता तो माता पिता में भी है पर दोनों गुरुजन हैं दोनों पूज्य हैं इसी प्रकार धर्मों में पूज्यता-भाव रखना चाहिये। तरतमता पर उपेक्षा करना चाहिये। तरतमता का भाव दो तरह का होता है--- १ **वैकासिक** और २ **भ्रमजन्य**

मानव-समाज क्रम-क्रम से विकासित होता जारहा है यद्यपि बीच बीच में मनुष्य अवनति की ओर भी झुकजाता है पर सब मिलकर वह विकसित ही होता जाता है। इसलिये अति प्राचीन काल में मनुष्यकी धार्मिक भावना संकुचित थी। मूसा के समय में मनुष्यकी नैतिकता अपने समाज तक सीमित थी जब कि ईसा के समय मे वह मनुष्य-मात्र तक फैलगई थी। यह विकास सम्बन्धी वैकासिक तरतमता है। इस मे हम उस महापुरुषको दोषी नहीं कह सकते। क्योंकि महापुरुष समाज के आगे चलता है। समाज की परिस्थिति की अपेक्षा ही उसके आगेपन का निश्चय किया जायगा। इसलिये हमें यही देखना चाहिये कि उस धर्म ने या धर्म-संस्थापक ने इस समय के जन-समाज को आगे बढ़ाया या नहीं ? इतनेसे ही वह हमारे लिये आदरणीय हो जाता है। वैकासिक तरतमता में अगर कोई धर्म या धर्म-संस्थापक दूसरे धर्मों की या धर्म संस्थापकों की अपेक्षा हीन भी मालूम हो तो भी हमें तीन कारणो से उनका आदर करना चाहिये १ --**पारिस्थितिक**

महत्ता, २—सामूहिक कृतज्ञता, ३ बन्धु-पूज्य-समादर।

१—पारिस्थितिक महत्ता का विवेचन ऊपर हो चुका है कि वह महापुरुष आज के लिये भले ही महान् न हो पर वह अपने ज़माने के लिये महान् था। वह अपने ज़माने में उस समय के लोगों के आगे बढ़ सका। यदि आज होता तो आज के साधन पाकर आज के लोगों के आगे भी बढ़ जाता। इसलिये परिस्थिति को देखते हुए वह महान् है।

२—सामूहिक कृतज्ञता का मतलब यह है कि हमारा जो आज विकास हुआ है उसके मूल में पूर्वजों की काफ़ी पूँजी है इसलिये आज के युग को पिछले युग का कृतज्ञ होना चाहिये आज के महापुरुष को पहिले के महापुरुषों का कृतज्ञ होना चाहिये। इस सामूहिक कृतज्ञता के कारण भी हमें पहिले महापुरुषों का आदर करना चाहिये।

३—बन्धु-पूज्य-समादर का मतलब उस व्यावहारिकता से है जो हम पड़ौसियों के गुरुजनों के विषय में रखते हैं। यदि हम किसी को मित्र कहते हैं तो हमारा कर्तव्य हो जाता है कि उसके माता पिता का यथोचित आदर करें। जो हमारे बन्धु के लिये पूज्य है वह हमारे लिये काफ़ी आदरणीय है। यही बन्धु-पूज्य-समादर है। धर्म के विषय में भी हमें इसी नीति से काम लेना चाहिये। मानलो हज़रत मूसा का जीवन आज हमारे लिये आदर्श नहीं है पर वे यहूदियों के गुरुजन हैं इसलिये यहूदियों के साथ बन्धुता प्रदर्शन करने के लिये हमें हज़रत मूसा का आदर करना चाहिये। यदि हम किसी यहूदी मित्र के बाप का-गुणदोष का विशेष विचार किये बिना-आदर कर सकते हैं तो समस्त यहूदियों के लिये जो पिता के समान हैं उनका आदर क्यों नहीं कर सकते?

**प्रश्न**—यदि बन्धुता के लिये दूसरों के देवों या गुरुओं का आदर करना कर्तव्य है तब तो बड़ी परेशानी हो जायगी। हमें उनका भी आदर करना पड़ेगा जिनको हम पाप समझते हैं। किसी शाक्त मनुष्य के साथ बन्धुता रखनी है तो बकरों का बलिदान लेनेवाली काली का आदर करना भी हमारा कर्तव्य हो जायगा। बहुत से चालाक धूर्त लोग भोले लोगों को बहकाकर गुरु बन जाते हैं अगर उन भोले लोगों का आदर करना हो तो उन धूर्त गुरुओं का भी आदर करना चाहिये। इस प्रकार हमें देव-मूढ़ता गुरु-मूढ़ता आदि मूढ़ताओं का शिकार हो जाना पड़ेगा।

**उत्तर**—इस प्रकार के अपवाद धर्म में ही नहीं साधारण लोक-व्यवहार में भी उपस्थित होते हैं। हम पड़ौसी के पिता को सन्मान की दृष्टि से देखते हैं इस साधारण नीति के रहते हुए भी यदि पड़ौसी का पिता बदमाश हो, क्रूर हो और अत्याचारी हो तो न्याय के संरक्षण के लिये हम उसका निरादर भी करते है पापका आदर नहीं करते। धर्म के विषय में भी हमें इस नीति से काम लेना चाहिये। फिर भी इसमें निम्न लिखित सूचनाओं का ध्यान रखना चाहिये।

१—गुणदेवों का तिरस्कार न करना चाहिये सिर्फ़ उनके दुरुपयोग दुरुपासना आदि का तिरस्कार करना चाहिये। जैसे काली, जगदम्बा आदि नामों से प्रसिद्ध शक्ति-देवी को शक्ति नामक गुण की मूर्ति समझ कर उसका सन्मान ही करना चाहिये। परन्तु शक्ति का जो विकराल रूप है पशु-बलि आदि जो उसकी उपासना का बुरा तरीक़ा है उसका विरोध करना चाहिये। हाँ, विरोध में भी दूसरों को समझाने की भावना हो

ंगे । हां, कोई कोई सम्प्रदाय सामयिक सुधार के कारण भी बन जाते है । जैसे प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदाय । ऐसे सम्प्रदाय मे यह देखना चाहिये कि वह सुधार आज के लिये कितना उपयोगी है । जिस सम्प्रदाय का जो अंश आज उपयोगी हो उसके उस अंश का समर्थन करना चाहिये बाकी पर उपेक्षा या अत्यावश्यक हो तो संयत विरोध । जो सम्प्रदाय किसी सिद्धान्त पर नहीं, घटना-विशेष पर टिके हो उन पर उपेक्षा करना चाहिये । जैसे खलीफो की नामावली के झगड़े पर टिके हुए मुसलमानों के सम्प्रदाय । ऐसे सम्प्रदायो को अमान्य करना चाहिये और उपेक्षा रखना चाहिये । और जो सम्प्रदाय धूर्त गुरुओ ने स्वार्थवश बना लिये है उनका तो यथासम्भव विरोध करना चाहिये । और उनके अनुयायिओं को मूल धर्म की ओर खींचना चाहिये । हाँ, विरोध का काम बहुत संयम और चतुराई का है हरएक के वश का नहीं है । अवसर देख कर समझावट के लिये ही विरोध होना चाहिये । अगर यह माळूम हो कि विरोध का परिणाम धार्मिक कटुता पैदा करेगा तो जबतक उचित अवसर न आ जाय तबतक मौन रखना चाहिये । सम्प्रदायों के विषय में साधारणनीति यह है कि उन्हे गौण करके मूल धर्म की तरफ झुकाया जाय ।

**प्रश्न**—मूल धर्म किसे कहना चाहिये और सम्प्रदाय किसे कहना चाहिये ?

**उत्तर**—जो किसी धर्म के देव या शास्त्र को पूर्ण प्रमाण मानकर उनकी दुहाई देकर कोई संगठन करते है वे सम्प्रदाय है । जिन में किसी दूसरे धर्म के देव या शास्त्र को पूर्ण प्रमाण नहीं माना जाता [ आदर भले ही रक्खा जाता हो ] न उस शास्त्र की दुहाई दी जाती है अपना स्वतन्त्र सन्देश दिया जाता है वह धर्म है । जैसे शैव और वैष्णव आर्य समाज आदि वेद की दुहाई देते हैं इसलिये वैदिक धर्म है, शैव वैष्णव आर्य समाज आदि सम्प्रदाय हैं । दिगंबर श्वेतांबर आदि म. महावीर की दुहाई देते हैं इसलिये जैन धर्म है, दिगंबर श्वेताम्बर आदि संप्रदाय है । मतलब यह कि धर्मप्रणेता अपने अनुभव की दुहाई देकर जगत को देशकाल के अनुसार क्रान्तिमय सन्देश देता है । सम्प्रदाय-प्रणेता किसी देव या शास्त्र को मूल मानकर उसकी टीका के रूप मे अपना सन्देश देता है । परिस्थिति के अनुसार वह भी सुधार करता है पर वह सुधार मूल की व्याख्या के रूप मे होता है । इसका यह मतलब नहीं है कि मूल धर्म मे दूसरे धर्मो की निन्दा रहती है या दूसरे शास्त्रो से घृणा रहती है । मूल धर्म इन बातों से बहुत दूर रहते है । जैसे इसलाम में म. ईसा आदि की खूब तारीफ़ है बाइबिल तौरात आदि की प्रामाणिकता भी स्वीकृत की गई है पर हजरत मुहम्मद को जो सन्देश जगत के सामने देना था वह उनने अपने या ईश्वर के नाम से दिया, किसी पुस्तक की पर्वाह नहीं की । हाँ, साधारण दृष्टिसे इतना समर्थन आवश्य कराया कि मेरे द्वारा जो सन्देश जगत को मिल रहा है वह सत्य है पहिले सन्देश भी सत्य थे इसलिये सब एक है । पुराने ग्रंथ विकृत हो गये इसलिये मेरे द्वारा उनका नया संस्करण भेजा जा रहा है । मतलब यह कि उनने अपनी बात का दूसरों से समर्थन कराया पर किसी पुस्तक के शब्दो के या देव या स्थान के गुलाम न बने । मूल धर्म सम्प्रदायों की अपेक्षा अधिक मौलिक उदार और क्रान्तिमय होते है । वे सम्प्रदायो की

अपेक्षा जनहित की अधिक पर्वाह करते हैं पुराने देव और शास्त्रों की कम।

**प्रश्न**– सिक्ख पंथ कबीर पंथ आदि को किस श्रेणी में डालना चाहिये।

**उत्तर**– यह एक बीचकी चीज हैं। ये सम्प्रदायों के समान नहीं हैं इन में मूल धर्म की विशेषता बहुत अंशों में पाई जाती है। अगर धर्म और सम्प्रदाय इन भागों में सब को विभक्त करना हो तो उन्हें धर्म की श्रेणी में ले जाना पड़ेगा भले ही इन के पीछे विशाल इतिहास न हो या बहुत संख्या न हो। अथवा दोनों के बीचका पंथ शब्द इनके लिये है ही।

इन सब धर्मों के भीतर अधिक से अधिक भक्तिमय समभाव की आवश्यकता है। इन मे जो विशेष तरतमता माळूम होती है उस भ्रम के पाँच कारण हैं। १ धर्मशास्त्र के स्थान का भ्रम, २ परिवर्तन पर उपेक्षा, ३ दृष्टि की विकलता, ४ अनुदारता के संस्कार, ५ सर्वज्ञता की असंगत मान्यता।

**धर्मशास्त्र का स्थान**–सभी धर्म सत्य अहिंसा शील त्याग सेवा आदि का उपदेश देते हैं और सभी धर्मों का ध्येय जन समाज को सदाचार में आगे बढ़ाना है। अगर सारा जगत सदाचारी प्रेमी सेवाप्रिय हो जाय तो जगत में दुःख ही न रहे। प्राकृतिक दुःख भी घट जाँय और जो रहें भी, वे परस्पर सेवा सहानुभूति से माळूम भी न पड़ें। बीमारी का कष्ट इतना नहीं खटकता जितना अकेले पड़े पड़े तड़पने का। मनुष्य दूसरों पर जो अपना बोझ लादता है अत्याचार करता है सेवा नहीं देता यही कष्ट सब से अधिक है सभी धर्म इसको हटाने का प्रयत्न करते हैं इसलिये **धर्मशास्त्र का काम सिर्फ नैतिक नियम, उन के पालन का उपाय, उनके न पालने पालने से होनेवाले हानि लाभ बताना है।** अगर सभी धर्मशास्त्र इतना ही काम करते तो उन में जो परस्पर अन्तर है वह रुपये में बारह आना घटजाता, पर आज धर्मशास्त्र में इतिहास भूगोल ज्योतिष पदार्थ विज्ञान दर्शन आदि नाना शास्त्र मिल गये हैं इसलिये एक धर्म दूसरे धर्म से जुदा माळूम होने लगा है।

अगर तुम से कोई पूछे–दो और दो कितने होते है ? तुम कहोगे चार। फिर पूछे हिन्दू धर्म के अनुसार कितने होते हैं इसलाम के अनुसार कितने होते हैं जैनधर्म के अनुसार कितने होते हैं ईसाई धर्म के अनुसार कितने होते हैं तो तुम कहोगे–यह क्या सवाल है ? धर्मों से इस का क्या सम्बन्ध, यह तो गणित का सवाल है ? इसी प्रकार तुम से कोई पूछे कलकत्ता से बम्बई कितनी दूर है एशिया कितना बड़ा है और फिर इनका उत्तर हिंदू मुसलमान आदि धर्मों की अपेक्षा चाहे तो उससे भी यही कहना होगा कि यह धर्मशास्त्र का सवाल नहीं है भूगोल का सवाल है। इसी तरह सूर्य चन्द्र तारे पृथ्वी आदि के सवाल [ भूगोल खगोल ] युग युगान्तर के सवाल ( इतिहास ) द्रव्यों या पदार्थों के और आत्मअनात्म लोक परलोक आदि के सवाल ( विज्ञान और दर्शन ) धर्म शास्त्र के विषय नहीं है। पर इन्हीं बातों को लेकर धर्मशास्त्रों में इतना विवेचन हुआ है और कल्पनाओ के द्वारा अँधेरे में टटोलने के कारण इतना मतभेद रहा है कि ऐसा माळूम होता है कि एक धर्म दूसरे धर्म से मिल ही नहीं सकता। अगर धर्म शास्त्र के स्थान का ठीक ठीक ज्ञान हो जाय

और धर्म शास्त्र के सिर पर लदा हुआ बोझ दूर हो जाय तो धर्मों में इतना भेद ही न रहे। धर्म शास्त्र पर लदे हुए इस बोझ से बड़ी भारी हानि हुई है। धर्मों मे अन्तर तो बढ़ ही गया है साथ ही इन विषयों का विकास भी रुक गया है। धर्म-शास्त्र के ऊपर श्रद्धा रखना तो जरूरी था और उससे लाभ भी था पर उसमे आये हुए सभी विषयों पर श्रद्धा रखने से सभी विषयो में मनुष्य स्थिर हो गया। सदाचार आदि के नियम इतने परिवर्तनशील या विकासशील नहीं होते जितने भौतिक विज्ञान आदि। सदाचार मे मनुष्य हजार वर्ष पहिले के मनुष्य से बढ़ा नहीं है कदाचित घट ही गया है पर भौतिक विज्ञान आदि मे कई गुणी तरक्की हुई है। अब अगर धर्मशास्त्र के साथ भौतिक विज्ञान आदि भी चले तो जगत की वड़ी भारी हानि हो, और धार्मिक समाज प्रगति के मार्ग में बड़ा भारी अड़ंगा बन जाय, जैसा कि वह बनता रहा है और बहुत जगह आज भी बना है। इसलिये सब से पहिली बात यह है कि धर्मशास्त्र में से दर्शन इतिहास भूगोल खगोल आदि विषय अलग कर दिये जाँय। फिर धर्मों का अन्तर बहुत मिट जायगा।

**प्रश्न**—धर्मशास्त्र मे ये विषय आये क्यों ?

**उत्तर**—पुराने समय मे शिक्षण का इतना प्रबन्ध नहीं था। धर्मगुरु के पास ही हरएक विषय की शिक्षा लेना पड़ती थी। धर्मगुरुओ पर अचल श्रद्धा होने से हरएक विषय पर अचल श्रद्धा होने लगी। गुरु लोग भी शिक्षण के सुभीते के लिये धर्मशास्त्र मे ही हरएक विषय खींचतान कर भरने लगे इस प्रकार धर्मशास्त्र सर्व-विद्या-भंडार बन गये। शिक्षण की दृष्टि से तो उस जमाने मे अवश्य सुभीता हुआ पर इन विद्याओ के विकास रुकने और धर्म धर्म में भेद बढ़ने का नुकसान भी काफी हुआ।

धर्मशास्त्र मे इन विषयों के आने का दूसरा कारण है धर्म के ऊपर श्रद्धा जमाने का और लोगो की अधिक से अधिक जिज्ञासाओं को किसी तरह शान्त करने का प्रयत्न।

धर्मगुरुने नीति सदाचार का उपदेश दिया लेकिन शिष्य तो कोई भी काम करने के लिये तभी तैयार होता जब उससे सुख की आशा होती। परन्तु दुनिया का अनुभव कुछ उल्टा था। उसने कहा—दुनिया मे तो दुराचारी विश्वास-घाती दंभी लोग वैभवशाली तथा आनन्दी देखे जाते है और जो सच्चे त्यागी हैं परोपकारी हैं नीतिमान है सदाचारी है वे पद पद ठोकर खाते हैं तब धर्म का पालन क्यों किया जाय ? शिष्य का यह प्रश्न निर्मूल नहीं था। शिष्य को यह समझना कठिन था कि असत्य भी सत्यकी ओट मे चल पाता है इसलिये सत्य महान है ? धर्म के पालन में जो असली आनन्द है वह अधर्मी नहीं पासकता। ऐसे समाधानो से बुद्धि को थोड़ासा संतोष मिल सकता था पर हृदय को सन्तोष नहीं मिल सकता था। हृदय तो धर्म के फल मे भीतरी सुख ही नहीं, बाहरी फल भी चाहता था। जब गुरुने कहा—हमारा जीवन पूरा नाटक नहीं है—नाटक का एक अंक है। नाटक का एक अंक देखने से पूरे नाटक का परिणाम नहीं मालूम होता। रामके नाटक में कोई सीता-हरण तक खेल देखकर निर्णय करे कि पुण्य का फल गृह-निर्वासन और नारीहरण है तो उसका यह निर्णय ठीक न होगा इसी प्रकार एक जीवन से पुण्य पाप के फल का निर्णय करना अनुचित है। धर्म का असली फल तो परलोक में मिलता है।

बीज से फल आने तक जैसे महीनों और वर्षों लगजाते हैं उसी तरह पुण्य पाप फल के बीज भी वर्षों युगों और जन्म जन्मन्तरों में अपना फल देते हैं।

इस उत्तर से शिष्य के मनका बहुतसा समाधान होगया पर जिज्ञासा और भी बढ़गई। पर लोक क्या है वहाँ कौन जाता है शरीर तो यहीं पड़ा रह जाता है परलोक कैसा है फल कौन देता है पहिले कब किन को कैसा फल मिला है? इन प्रश्नों के उत्तरों में गुरुको ईश्वर स्वर्ग नरक युग युगान्तर उनके महापुरुष आदि का वर्णन करना पड़ा, इसके लिये जो कुछ तर्क-सिद्ध मिला वह किया बाकी कल्पना से भरागया। इस प्रकार धर्मशास्त्र में बहुत से विषय आगये और उन में कल्पना का भाग काफी होने से विभिन्नता भी हुई, क्यों कि हरएक धर्म-प्रवर्तक की कल्पना एकसी नहीं हो सकती थी।

आज हमें इतना ही समझना चाहिये कि धर्म के फल को समझाने लिये ये उदाहरण मात्र हैं। भिन्न भिन्न धर्मों के जुदे जुदे वर्णन भी सिर्फ इस बात को बताते हैं कि अच्छे कर्म का फल अच्छा और बुरे कर्म का फल बुरा है।

अगर कोई कहानी आज तथ्यहीन मालूम हो तो हमें दूसरी कहानी बना लेना चाहिये या खोज लेना चाहिये। धर्मशास्त्र में आये हुए विषयों को विज्ञान की दृष्टि से न देखना चाहिये धर्म के स्पष्टीकरण की दृष्टि से देखना चाहिये। ईश्वर का दार्शनिक वर्णन धर्मशास्त्र के भीतर कर्मफल प्रदान के रूप में ही रहेगा। इस दृष्टि से परस्पर विरोधी वर्णनों की भी संगति बैठ जायगी।

**प्रश्न**—इतिहास आदि को धर्मशास्त्र का अंग न माना जाय तो भले ही न माना जाय पर दर्शन शास्त्र को अगर अलग कर दिया जायगा तो धर्म की जड़ ही उखड़ जायगी। धर्म का कार्य सदाचार दुराचार का प्रदर्शन कराना तो है ही, साथ ही यह बताना भी है कि वह फल कैसे मिलता है। इसके उत्तर में दर्शन शास्त्र का बड़ा भाग आ जाता है इसलिये दर्शन को धर्म से अलग नहीं किया जा सकता।

**उत्तर**—धर्मशास्त्र दर्शन शास्त्र का ही नहीं हरएक शास्त्र का सहारा लेता है फिर भी वह उन सब से जुदा है। इस की परीक्षा यों हो-सकती है कि दर्शन के मिथ्या होने पर भी धर्म सत्य हो सकता है और दर्शन के सत्य होने पर भी धर्म मिथ्या हो सकता है। इसके अतिरिक्त दर्शन की बहुत सी बातों से धर्म का कोई संबंध ही नहीं जुड़ता। दर्शन शास्त्र के मुख्य मुख्य प्रश्न ये हैं।

ईश्वरवाद, परलोकवाद या आत्मवाद, सर्वज्ञवाद, मुक्तिवाद, द्वैताद्वैत, नित्यानित्यवाद, आदि

**ईश्वरवाद**— जगत का सृष्टा या नियन्ता कोई एक आत्मा है जो पुण्य पाप का फल देता है यह ईश्वर-वाद है। कर्मफल दाता-नियन्ता-सृष्टा-कोई एक आत्मा नहीं है यह निरीश्वरवाद है। दर्शन शास्त्र की दृष्टि से इन दो में से कोई एक सच्चा है। पर धर्मशास्त्र दोनों को सच्चा और दोनों को झूठा कर सकता है। धर्मशास्त्र की दृष्टि में ईश्वरवाद की सचाई यह है कि हमारे पुण्य पाप निरर्थक नहीं हैं। अगर हम जगत के कल्याण के लिये दिनरात-परिश्रम करते हैं फिर भी जगत् हमारी अवहेलना करता है तो हमारा यह गुप्त पुण्य व्यर्थ न जायगा क्यों कि जगत देखे या न देखे पर ईश्वर अवश्य

ता है। इसलिये वह अवश्य किसी न किसी प मे सत्फल देगा। इसी प्रकार अगर हम कोई प करते है पर दुनिया की आँख मे धूल झोंक र उस के अपयश से बचे रहते है तो भी वह प निरर्थक न जायगा क्यो कि ईश्वर की आँखों म धूल नहीं झोंकी जासकती। वह पाप का फल कभी न कभी अवश्य देगा। इस प्रकार गुप्त पाप से भी भय और गुप्त पुण्य से भी संतोष पैदा होना ईश्वरवाद का फल है। ऐसा ईश्वरवाद धर्म की दृष्टि में सत्य है, भले ही ईश्वर हो या न हो अथवा सिद्ध होता हो या न होता हो। पर अगर ईश्वरवाद का यह अर्थ है कि ईश्वर दयालु है प्रार्थनाओं से खुश होने पर वह पाप माफ कर देता है इसलिये पाप की चिन्ता न करना चाहिये ईश्वर को खुश करने की चिन्ता करना चाहिये तो यह ईश्वरवाद धर्मशास्त्र की दृष्टि मे मिथ्या है भले ही दर्शन शास्त्र ईश्वरवाद को सिद्ध कर देता हो।

इसी प्रकार अनीश्वरवाद के विषय में भी है। अगर अनीश्वरवाद का यह अर्थ है कि ईश्वर युक्ति तर्क से सिद्ध नहीं होता पुण्य पाप फल की व्यवस्था प्राकृतिक नियम के अनुसार ही होती है। जैसे छुप कर भी विष खाया जाय और उससे अपराध की क्षमा याचना की जाय तो विष के ऊपर इसका कुछ प्रभाव न पड़ेगा, विप खाने का निश्चित दंड प्राकृतिक नियम के अनुसार मिलेगा। इसी प्रकार हम जो पाप करते हैं उस का फल भी प्राकृतिक नियम के अनुसार अवश्य मिलता है। इस प्रकार का अनीश्वरवाद--कर्मवाद तर्क-सिद्ध हो या न हो धर्म शास्त्र की दृष्टि में सत्य है। पर अगर अनीश्वरवाद का अर्थ पुण्य पाप के फल की अव्यवस्था है इसलिये किसी न किसी तरह अपना स्वार्थ सिद्ध करना जीवन का ध्येय है, सामूहिक स्वार्थ की या नैतिक नियमों की पर्वाह करना व्यर्थ है। इस प्रकार का अनीश्वरवाद तर्क-सिद्ध भी हो तो भी धर्मशास्त्र की दृष्टि में मिथ्या है। इस प्रकार धर्मशास्त्र ईश्वरवाद सम्बन्धी दार्शनिक चर्चा का उपयोग करके भी उससे भिन्न है क्यो कि दार्शनिक पद्धतिसे सिद्ध किये हुए ईश्वरवाद अनीश्वरवाद की उसे पर्वाह नहीं है। उसकी दृष्टि स्वतन्त्र है।

**परलोकवाद या आत्मवाद**--आत्मा तो हरएक मानता है पर आत्मा कोई मूलवस्तु [ तत्त्व ] है या नहीं, इसी पर विवाद है। आत्मा को नित्य मानने से परलोक तो सिद्ध हो ही जाता है क्योंकि आत्मा जब नित्य है तब मरने के बाद कहीं न कहीं जायगा और कहीं न कहीं से मरकर आया भी होगा यही परलोक है। यद्यपि आत्मा को अनित्य या अतत्त्व मान कर भी परलोक बन सकता है पर धर्म की दृष्टि मे इससे कोई अन्तर नहीं होता। जैसे पानी आक्सिजन आदि के संयोग से बना है फिर भी उस का यह रासायनिक आकर्षण भाफ बनने पर भी नहीं टूटता इस प्रकार संयोगज होने पर भी भाफ और पानी के रूप मे अनेकवार पुनर्जन्म करता रहता है उसी प्रकार आत्मा संयोगज हो-कर भी पुनर्जन्म कर सकता है। इस प्रकार आत्मवाद और परलोकवाद मे अन्तर है। आत्म-वाद आत्मा को नित्य सिद्ध करता है और पर-लोकवाद आत्मा को अनेक भवस्थायी सिद्ध करता है। पर इन दोनों का धर्मशास्त्र में एकसा उपयोग है क्योकि धर्मशास्त्र आत्मा की नित्यता और परलोक से एक ही बात सिद्ध करना चाहता है कि पुण्य पाप का फल इस जन्म में यदि

न मिल सके तो पर जन्म में अवश्य मिलेगा पुण्यपाप व्यर्थ नहीं जायगा। यह बात आत्मवाद और परलोकवाद में एक सरीखी है। दर्शनशास्त्र अगर अपनी युक्तियों से परलोक या आत्मा का खण्डन भी करदे तो भी पुण्यपाप फल की दृष्टि से धर्मशास्त्र परलोक या आत्मवाद को सत्य मानेगा।

यदि आत्मवाद का यह अर्थ हो कि आत्मा तो अमर है किसी की हत्या कर देने पर भी आत्मा मर नहीं सकता इसलिये हिंसा अहिंसा का विचार व्यर्थ है, ऐसी हालत मे दर्शनशास्त्र की दृष्टि में आत्मवाद सत्य होने पर भी धर्मशास्त्र की दृष्टि में असत्य हो जायगा। आत्मवाद के विषय में दर्शनशास्त्र बदलता रहे तो भी धर्मशास्त्र न बदलेगा उसकी दृष्टि पुण्यपाप की सार्थकता पर है। यही आत्मवाद के विषय में धर्मशास्त्र और दर्शनशास्त्र की जुदाई है।

**सर्वज्ञवाद**—सर्वज्ञ हो सकता है या नहीं, या हो सकता है तो कैसा हो सकता है दर्शनशास्त्र के इस विषय में अनेक मत हो सकते हैं और हैं, पर धर्मशास्त्र को इससे कोई मतलब नहीं। धर्मशास्त्र तो सिर्फ़ यही चाहता है कि मनुष्य नैतिक नियमों पर पूर्ण विश्वास करे और तदनुसार चले। अब इसके लिये बहुदर्शी सर्वज्ञ माना जाय या श्रेष्ठ विद्वान सर्वज्ञ माना जाय, धर्मशास्त्र इसमें कुछ आपत्ति न करेगा। सिर्फ़ सर्वज्ञता के उस रूप पर आपत्ति करेगा जो धर्मसमभाव का विघातक है और विकास का रोकनेवाला है। इस सर्वज्ञवाद के विषय मे दर्शनशास्त्र परस्पर में जितना विरोधी है उतना धर्मशास्त्र नहीं है। कोई सर्वज्ञ माने या न माने यदि नैतिक नियमों की प्रामाणिकता में उसका विश्वास है तो धर्मशास्त्र की दृष्टि से उसने सर्वज्ञ विषयक सत्य पा लिया। पर दर्शनशास्त्र इस बात पर उपेक्षा करता है। वह तो सर्वज्ञता के रूप का तथ्य जानना चाहता है। यही इन दोनों में अन्तर है।

**मुक्तिवाद**—मुक्तिवाद के विषय में भी दर्शनशास्त्र में अनेक मत हैं। कोई मानता है मुक्ति में आत्मा अनन्त ज्ञान अनन्त सुख में लीन अनन्त काल तक रहता है, कोई कहता है वहाँ ज्ञान और सुख नहीं रहता उसके विशेष गुण नष्ट हो जाते हैं, कोई कहता है मुक्ति में आत्मा का नाश हो जाता है, कोई कहता है वहाँ बिना इन्द्रियों के सब भोगों को भोगता है, कोई कहता है उसका पृथक अस्तित्व मिट जाता है, कोई कहता है सदा के लिये ईश्वर के पास पहुँच जाता है, कोई कहता है मुक्ति नित्य नहीं है जीव वहाँ से लौट आता है, इस प्रकार नाना मत हैं। धर्मशास्त्र इस विषय में बिलकुल तटस्थ है। धर्मशास्त्र के लिये तो स्वर्ग नरक मोक्ष आदि का इतना ही अर्थ है कि पुण्य पाप-अच्छे बुरे कार्यों-का फल अवश्य मिलता है। जिसने इस बात पर विश्वास कर लिया फिर मुक्ति पर विश्वास किया या न किया, उसको धर्मशास्त्र मिथ्या नहीं कहता।

**प्रश्न**—अगर मुक्ति न मानी जाय तो मनष्य धर्म क्यों करेगा? मुक्ति हो या न हो, पर मुक्ति का आकर्षण तो नष्ट न होना चाहिये।

**उत्तर**—मुक्ति पर विश्वास होना उचित है उसमें कोई बुराई नहीं है, पर इस के लिये बुद्धि के हाथों में हथकड़ी नहीं डाली जा सकती, बुद्धि तो अपना काम करेगी ही, इसलिये अगर किसी को मुक्ति तर्क-संगत न मालूम हुई तो इसीलिये उसे धर्म न छोड़ देना चाहिये, न छोड़ने की ज़रूरत है। स्वर्ग की मान्यता से भी या परलोक

की मान्यता से भी धर्म के लिये आकर्षण रह सकता है।

**प्रश्न**--परिमित सुख की आशा मे मनुष्य जीवनोत्सर्ग क्यों करेगा?

**उत्तर**--मनुष्य सरीखा हिसाबी प्राणी दिन-रात जितने लाभ से सन्तुष्ट रहता है स्वर्ग में उससे कहीं अधिक लाभ है। मनुष्य यह जानता है कि अच्छी रोटी खाने पर भी शामको फिर भूख लगेगी फिर भी रोटी खाता है और उस रोटी के लिये दुनिया भर की विपदा मोल लेता है। मनुष्य दिनरात कोल्हू के बैल की तरह घर और बाजार में चक्कर काटता है और सब तरह की परेशानियाँ उठाता है तब वह स्वर्ग के लिये यह हठ करके क्यो बैठ जायगा कि मैं तो तभी धर्म करूंगा जब मुझे मोक्ष मिलेगा, स्वर्ग के लिये मै कुछ नहीं करता। सच तो यह है कि जो तत्त्वदर्शी है उसको सदाचार का फल ढूंढ़ने के लिये स्वर्ग मोक्ष की भी ज़रूरत नहीं होती, वह तो सदाचार का सुफल यहीं देख लेता है, जब बाहर नहीं दिखाई देता तब भीतर देख लेता है। और जो तत्त्वदर्शी नहीं है वह मोक्ष के आनन्द को समझ ही नहीं सकता। उसे स्वर्ग और मोक्ष में से किसी एक चीज़ को चुनने को कहा जाय तो वह स्वर्ग ही चुनेगा। हाँ, मोक्ष के अर्थ को ठीक न समझकर साम्प्रदायिक छाप के मारे कुछ भी कहे। मतलब यह है कि मुक्ति के मानने से सदाचार का आकर्षण नष्ट नहीं होता इसलिये धर्मशास्त्र मुक्ति के विषय में तटस्थ है।

**द्वैताद्वैत**--द्वैत का अर्थ है जगत दो या दो से अधिक तत्त्वों से बना हुआ है। जैसे पुरुष और प्रकृति, जीव पुद्गल धर्म अधर्म काल आकाश, पृथ्वी जल अग्नि वायु आकाश काल दिशा आत्मा मन आदि ये सब द्वैतवाद हैं। अद्वैत का अर्थ है जगत का मूल एक है जैसे ब्रह्म। दर्शनशास्त्र की यह गुत्थी अभी तक नहीं सुलझी। भौतिक विज्ञान भी इस विषय मे काफ़ी प्रयत्न कर रहा है। बहुत से वैज्ञानिक सोचने लगे हैं कि तत्त्व बानवें नहीं हैं एक है फिर भले ही वह ईथर हो या और कुछ। अद्वैत की मान्यता में मूल तत्त्व चेतन है या अचेतन, यह प्रश्न ही व्यर्थ है। चेतन का अर्थ अगर ज्ञान-जानना-विचार करना आदि है तो उस मूल अवस्था में यह सब असंभव है इसलिये अद्वैत की मान्यता में मूलतत्त्व अचेतन ही रहेगा। अथवा बीजरूप मे चेतन और अचेतन दोनों ही उसमें मौजूद हैं इसलिये उसे चैतन्याचैतन्यातीत कह सकते हैं। द्वैत अद्वैत की यह समस्या सरलता से नहीं सुलझ सकती पर धर्मशास्त्र को इसकी जरा भी चिन्ता नहीं है। यह समस्या सुलझ जाय तो धर्मशास्त्र का कुछ लाभ नहीं और न सुलझे तो कुछ हानि नहीं। जगत मूल मे एक हो या दो, सदाचार की आवश्यकता और रूप में इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। अगर जगत मूल मे एक है तो इस का यह अर्थ नहीं कि हम किसी को तमाचा मारे तो उसे न लगेगा अथवा हमें ही लगेगा। द्वैत हो या अद्वैत, हिंसा अहिंसा आदि विवेक उसी तरह रखना होगा जैसा आज रक्खा जाता है। इसलिये द्वैत अद्वैत के दार्शनिक प्रश्न का धर्मशास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं है। द्वैत या अद्वैत मानने से मनुष्य धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि आस्तिक और ईमानदार नहीं बनता।

हां, द्वैत या अद्वैत जो कुछ भी बुद्धि को जच जाय उसका उपयोग धर्मशास्त्र अच्छी तरह कर सकता है। अद्वैत का उपयोग धर्मशास्त्र

में विश्वप्रेम के रूप में हो सकता है। द्वैत का उपयोग आत्मा और शरीर को भिन्न मानकर शारीरिक सुखों को गौण बनाने में किया जा सकता है।

दर्शन के दो परस्पर विरोधी सिद्धान्त धर्मशास्त्र में एक सरीखे उपयोगी हो सकते है और सत्य अहिंसा की पूजा के काम में आ सकते हैं यह धर्म शास्त्र से दर्शन शास्त्र की भिन्नता का सूचक है।

**नित्यानित्यवाद**– वस्तु नित्य है या अनित्य, यह वाद भी धर्म के लिये निरुपयोगी है। अगर नित्यवाद सत्य है तो भी हत्या करना हिंसा है। अगर अनित्यवाद या क्षणिकवाद सत्य है तो भी यह कहकर खून माफ नहीं किया जा सकता कि वह तो हर समय नष्ट हो रहा था मैंने उसका खून किया तो क्या विगड़ गया, इसलिये नित्यवाद अनित्यवाद का आत्म शुद्धि या सदाचार के साथ कोई सम्बन्ध नहीं बैठता। हां, भावना के रूप में दोनों का उपयोग किया जा सकता है। नित्यवाद से हम आत्मा के अमरत्व की भावना से मृत्यु से निर्भय हो सकते है और अनित्यवाद से भोगों की या जीवन की क्षणभंगुरता के कारण इससे निर्मोह हो सकते हैं। इस प्रकार धर्म शास्त्र तो नित्यवाद का और अनित्यवाद का समान रूप मे उपयोग करता है। दर्शन शास्त्र तो नित्यवाद या अनित्यवाद को-दो में से किसी एक को मिथ्या अवश्य कहेगा परन्तु धर्म शास्त्र दोनों का सत्य के समान उपयोग कर सकेगा यह धर्म शास्त्र और दर्शन शास्त्र का भेद है।

इस प्रकार धर्म शास्त्र और दर्शन शास्त्र आदि को अलग कर देने से, अर्थात् धर्मशास्त्र के सत्य को दर्शन शास्त्र या अन्य किसी शास्त्र के सत्य पर अवलम्बित न करने से धर्मों का पारस्परिक विरोध बहुत शान्त हो जाता है। इसलिये धर्म-शास्त्र का स्थान समझलेना चाहिये। और इस विषय का भ्रम दूर कर देना चाहिये।

**प्रश्न**–धर्मशास्त्र का स्थान समझ लेने से दर्शनशास्त्र तथा और दूसरे शास्त्रों से सम्बन्ध रखनेवाले झगड़े अवश्य शान्त हो जाँयगे, पर धर्मों में इतना ही विरोध नहीं है। प्रवृत्ति निवृत्ति, हिंसा अहिंसा-वर्ण अवर्ण तथा और भी आचार शास्त्र सम्बन्धी भेद हैं। इस बातों में प्रायः सभी परस्पर विरुद्ध है तब धर्मसमभाव कैसे रह सकता है?

**उत्तर** इन बातों को लेकर जो धर्मों में विरोध मालूम होता है उसके कारण है परिवर्तन पर उपेक्षा और दृष्टि की विकलता। पहिले धर्म-विरोध-भ्रम के पांच कारण बताये हैं उनमें से ये दूसरे तीसरे हैं जो कि आचार-विषयक भ्रम के कारण हैं।

**२ परिवर्तन पर उपेक्षा**—ऋतु के अनुसार जैसे हमें अपने रहन सहन भोजन आदि में कुछ परिवर्तन करना पड़ता है उसी प्रकार देशकाल बदलने पर सामाजिक विधानों में परिवर्तन करना पड़ता है। इसलिये एक जमाने में जो विधान सत्य होता है दूसरे जमाने में वही विधान असत्य बन जाता है इसलिये एक जमाने का धर्म दूसरे जमाने के धर्म से अलग हो जाता है। परन्तु अपने अपने समय में दोनों ही समाज के लिये हितकारी होते हैं। जो लोग परिवर्तन इस मर्म को समझजाते हैं उन्हें धर्मों में विरो नहीं मालूम होता वे परस्पर विरुद्ध मालूम हे आचारो में समन्वय करके उनसे लाभ उठा हैं। परन्तु जो परिवर्तन पर उपेक्षा करते हैं

हर बात में विरोध ही नजर आता है, वे इस विषय में विषमता और विरोध के अन्तर को ही नहीं समझते। विषमता तो नर और नारी में भी काफी है पर इस से उनमे विरोध सिद्ध नहीं होता। व्यवहार की यह साधारण बात धर्म के विषय में भी अगर काम मे लाई जाय तो सुधारक और उदार बनने के मार्ग में कठिनाई न रहे।

एक जमाने मे समाज की आर्थिक व्यवस्था के लिये वर्ण-व्यवस्था की जरूरत पड़ी तो धर्म में वर्ण-व्यवस्था को स्थान मिलगया। उससे समाज ने काफी लाभ उठाया, लोग आजीविका की चिन्ता से मुक्त हो गये, परन्तु इस के बाद वर्ण-व्यवस्था ने जातीयता का रूप धारण करके खान पान विवाहादि सम्बन्ध में अनुचित बाधाएँ डालना शुरु कर दिया, जाति के कारण गुणहीनो की पूजा होने लगी, उन के अधिकारों से गुणी और निरपराध पिसने लगे, तब वर्ण-व्यवस्था को नष्ट कर देने की आवश्यकता हुई। इस समयानुसार परिवर्तन मे विरोध किस बात का? वैदिक धर्म की वर्ण-व्यवस्था और जैन धर्म बौद्ध धर्म का वर्णव्यवस्था-विरोध, ये दोनों ही अपने अपने समय में समाज के लिये कल्याणकारी रहे है। इसलिये धर्म-समभावी को उचित परिवर्तन के लिये सदा तैयार रहना चाहिये और परिवर्तन पर उपेक्षा कभी न करना चाहिये।

**२ दृष्टि की विकलता**– दृष्टि की विकलता से किसी चीज का पूरा रूप या पर्याप्तरूप नहीं दिखता, इसी से हिंसा अहिंसा और प्रवृत्ति निवृत्ति के विरोध पैदा होते है। सभी धर्म अहिंसा के प्रचारक है परन्तु अहिंसा का पूर्णरूप हरएक आदमी नहीं पालसकता और न हर समय अहिंसा का बाह्यरूप एकसा होता है। इसलिये कभी कभी अहिंसा में भी हिंसा का रूप हो जाता है। धर्मों में जो अहिंसा की तरतमता दिखाई देती है उसपर अगर पूरी तरह विचार किया जाय तो उसकी आवश्यकता हम समझ जाँयगे और फिर धर्मों मे विरोध न रहेगा।

अहिंसा का पूरा पालन तो असंभव है। इसलिये उसका सम्भव और व्यवहार्य रूप ही दुनिया के आगे रक्खा जाता है। जहां का समाज जितना विकसित होता है अहिंसा का पालन उतना ही अधिक होता है। पर धर्म की दृष्टि तो अहिंसा की ओर ही होती है। जैनधर्म मे अहिंसा का पालन अधिक है इसलाम मे कम है, पर दृष्टि दोनों की अहिंसा की तरफ है। इसलाम मे पशुबलि आदि जो विधान पाये जाते हैं वे अधिक प्राणि हिंसा के बदले में कम प्राणि हिंसा के लिये होने से अहिंसा रूप हैं। जो मनुष्य-हत्या करता हो उसे पशुहत्या तक सीमित करना, जो अधिक पशुहत्या करता हो उसे कम पशुहत्या तक सीमित करना, जो प्रतिदिन पशुहत्या करता हो उससे कभी कभी पशु हत्या बंद कराना, जो अन्न मिलने पर भी स्वाद के लिये पशुहत्या करता हो उसे सिर्फ पेट भरने के लिये अनिवार्य प्रसंगो पर पशुहत्या करने-देना आदि हिंसारूप कार्य अहिंसा की दिशा तरफ होने से अहिंसात्मक है। इसलिये सभी धर्म अहिंसा का सन्देश देनेवाले है।

**प्रश्न**–यह ठीक है कि सभी धर्म अहिंसा की तरफ दृष्टि रखते है उनमें जो हिंसा-विधान पाये जाते है उनमे उन धर्मों का कोई अपराध नहीं है इसलिये सभी धर्म आदरणीय है। यहां तक ठीक है, पर सभी धर्म समानरूप से पालनीय नहीं हो सकते। जो धर्म कम विकसित

श्रेणी में पैदा हुआ है उसका दर्जा कुछ न कुछ नीचा अवश्य है। ऐसी हालत में सभी धर्मोंमें समभाव कैसे पैदा होगा। और जो लोग छोटी श्रेणी के धर्म को मानते हैं उनके कार्य का समर्थन कैसे किया जा सकेगा? या उन्हें धर्म के विषय में समान कैसे माना जा सकेगा?

**उत्तर**--धर्म को अभिमान का विषय बनाना चन्दन को ईंधन बनाने के समान है इसलिये अमुक का धर्म छोटा और हमारा धर्म बड़ा यह अभिमान न रखना चाहिये।

दूसरी बात यह है कि हरएक धर्म में कोई ऐसी बात निकल आती है जो दूसरे धर्मों में उतनी मात्रा में नहीं पाई जाती इसलिये किसी एक दृष्टि से बड़ेपन का विचार न करना चाहिये। अहिंसा की दृष्टि से यदि जैनधर्म महान है तो दीन-सेवा की दृष्टि से ईसाई धर्म महान है, भातृ-भाव और व्याज न खाने ( अपरिग्रह ) की दृष्टि से इसलाम प्रधान है। बौद्धधर्म में इसलाम और ईसाई धर्म की दोनों विशेषताएँ काफी मात्रा में है हिन्दूधर्म की सर्वांग-पूर्णता असाधारण है। इसलिये सब दृष्टियों से किसी को बड़ा नहीं कहा जा सकता और एक एक दृष्टि से तो प्रायः सभी बड़े हैं।

तीसरी बात यह कि अभिमान की चीज़ धर्म नहीं है धर्माचरण है। यद्यपि धर्माचरण का भी अभिमान न करना चाहिये फिर भी महत्ता धर्माचरण की है। कोई बड़े शहर में भिखारी और मूर्ख हो सकते हैं और छोटे शहर में लख-पति और चतुर हो सकते हैं। महत्ता अपनी योग्यता से है शहर से नहीं। इसी प्रकार महत्ता धर्माचरण [ नैतिक जीवन ] से है धर्म संस्था की सदस्यता से नहीं। यह तो जन्म की बात है किसी भी धर्म-संस्था में जन्म हो गया।

चौथी बात यह है कि धर्म-संस्था की महत्ता से धर्म-संस्थापक की महत्ता का माप नहीं लगाया जा सकता। जैसे एक ही योग्यता के चार पाठक छोटी बड़ी चार कक्षाओं को ऊँचा नीचा पाठ्य विषय पढ़ायेंगे पर उनकी कक्षा की तरतमता उनके ज्ञान की तरतमता की सूचक नहीं है। पहिली कक्षा पढ़ाने वाला और चौथी कक्षा पढ़ानेवाला, ये दोनों समान योग्यता रखकर भी कक्षा के छात्रों की योग्यता के अनुसार ऊँचा नीचा कोर्स पढ़ावेंगे। इसी प्रकार दो धर्मों के संस्थापक समान योग्यता रख कर भी परिस्थिति के अनुसार ऊँचा नीचा कोर्स पढ़ावेंगे। यह बहुत सम्भव है कि हजरत मुहम्मद अगर ढाई हजार वर्ष पहिले भारतवर्ष में पैदा होते तो महात्मा महावीर और महात्मा बुद्ध से बहुत कुछ मिलते जुलते होते। और महात्मा महावीर या महात्मा बुद्ध डेढ़ हजार वर्ष पहिले अरब में पैदा होते तो हजरत मुहम्मद से मिलते जुलते होते। इसलिये धर्म संस्थाओं की तुलना से धर्म संस्थापकों की तुलना न करना चाहिये।

पांचवी बात यह है कि सभी धर्म अपूर्ण हैं अथवा यह कहना चाहिये कि वे अमुक देश-काल व्यक्ति के लिये पूर्ण हैं इसलिये किसी युग में सभी धर्म समान पालनीय नहीं हो सकते। उनमें से अनावश्यक बातें निकाल देना चाहिये या गौण कराना चाहिये। और आवश्यक बातें जोड़ देना चाहिये।

जैसे--हिन्दू धर्म की वर्ण व्यवस्था आज विकृत होगई है, वह मुर्दा होकर सड़ रही है, उसे या तो मूल के रूप में लाना चाहिये या नष्ट कर देना चाहिये। इस समय नष्ट करना ही सम्भव

है इसलिये वही करना चाहिये । वर्ण व्यवस्था नष्ट हो जाने से शूद्राधिकार की समस्या हल हो जायगी। रही स्त्रियो की बात, सो हिन्दू शास्त्रो मे नारी के अधिकारों में जो कमी है वह पूरी करना चाहिये । जैन धर्म की साधु संस्था आज अव्यवहार्य या निरुपयोगी हो गई है । आज ऐसी एकान्त निवृत्तिमय साधु संस्था गुप्तप्रवृत्तिमय होकर पाप बन गई है उसे नष्ट करना चाहिये और सांख्ययोग के स्थान में कर्मयोग को मुख्यता देना चाहिये । बौद्ध धर्म में अहिंसा का रूप विकृत हो गया है मृतमांस-भक्षण का विधान दूर करना चाहिये । मांस-भक्षण-निषेध को जोरदार बनाना चाहिये। महायान संम्प्रदाय के द्वारा आये हुए अनेक कल्पित देव देवी दूर होना चाहिये। ईसाई धर्म का पोपडम तो नष्ट हो ही चुका है। बाइबिल में ऐसे अधिक विधिविधान नहीं हैं जिन पर कुछ विशेष कहा जा सके। जो अव्यवहार्य बाते थी वे सब तोडी जा चुकी है बल्कि उनकी प्रतिक्रिया हो चुकी है। धनियों को स्वर्ग में प्रवेश न मिलने की बात की प्रतिक्रिया आज भयंकर साम्राज्यवाद के रूप में हो रही है । ईसाई राष्ट्र अपने साम्राज्यवाद के कारण आज जगत के लिये अभिशाप बन रहे हैं इन सब में सुधार होने की ज़रूरत है। और जो बाइबिल में नैतिक उपदेश है वे ठीक है। महात्मा ईसा के जीवन में जो अतिशयो की कल्पना है वह जाना चाहिये । अन्य धर्मो में भी यह बीमारी है वह वहाँ से भी जाना चाहिये। मांस-भक्षण आदि का जो कम प्रतिबंध है वह अधिक होना चाहिये । इसलाम में जो पशुवलि आदि के विधान है जो उस समय अधिक हिंसा रोकने के लिये बनाये गये थे-वे आज अनुचित है। मूर्त्तिपूजा का विरोध भी अब आवश्यक नहीं है ये सुधार कर लेना चाहिये ।

ये तो नमूने हैं सुधार करने की सब जगह काफ़ी ज़रूरत है । इसलिये धर्मो की पालनीयता सब में समान नहीं है । पर सब मे इतनी समानता ज़रूर है कि देशकाल के अनुसार उनमें सुधार कर लिया जाय और उनकी नीति व्यापक और उदार बनाई जाय ।

इन पाँच बातों का विचार कर लेने पर धर्मो की तरतमता पर दृष्टि न जायगी और तरतमता के नाम से पैदा होनेवाला मद दूर हो जायगा । सभी धर्मों में भगवती अहिंसा की छत्र छाया दिख पड़ेगी। यह दृष्टि की विकलता का ही परिणाम है कि हमे सब धर्मों मे विराजमान भगवती अहिंसा के दर्शन नहीं होते ।

दृष्टि की विकलता के कारण प्रवृत्ति निवृत्ति आदि का रहस्य समझ में नहीं आपाता है। अन्यथा सभी धर्मो मे पाप से निवृत्ति और विश्वकल्याण मे प्रवृत्ति का विधान है । साधु-संस्था आदि के रूप मे कहीं निवृत्तिप्रधानता या प्रवृत्तिप्रधानता पाई जाती है वह देशकाल के अनुसार थी उसमें आज के देशकाल के अनुसार सुधार कर लेना चाहिये । मूर्त्तिपूजा अमूर्त्तिपूजा आदि का विरोध भी दृष्टि की विकलता का परिणाम है। साधारणतः मूर्त्तिपूजा किसी न किसी रूप में रहती ही है उसके किसी एक रूप का विरोध देशकाल को देखकर करना पड़ता है, जैसे इसलाम को करना पड़ा । देवदेवियों की मूर्त्तियाँ दलबन्दी का कारण थीं इसलिये वे हटादी गईं । पर मक्का की पवित्रता, अमुक पत्थर का आदर ( जो कि एक तरह की मूर्त्तिपूजा है.) रहा, क्यो कि इससे दल बन्दी नहीं होती थी बल्कि एकता होती थी । मूर्त्तिपूजा के अमुकरूप के विरोध को देखकर किसी

धर्म को मूर्त्तिपूजा का विरोधी समझलेना दृष्टि की विकलता का परिणाम है। दृष्टि की विकलता दूर होजाने से इन सब विरोधों का समन्वय सरलता से हो सकता है।

**४ अनुदारता के संस्कार**—भक्तिमय समभाव में बाधा डालनेवाले कारणों में चौथा कारण है अनुदारता के संस्कार। हमारा धर्म ही सच्चा है बाकी सब धर्म झूठे हैं मिथ्यात्व हैं नास्तिक हैं इस प्रकार के संस्कार बाल्यावस्था से हीं डाले जाते हैं इसका फल यह होता है कि उसे अपनी हरएक बात में सच्चाई और अच्छाई दिखाई देने लगती है और दूसरों की बातों में बुराई ही बुराई। हिन्दू सोचता है नमाज भी कोई प्रार्थना है! न कोई स्वर-संगीत न कोई आकर्षण। मुसलमान सोचता है गलाफाड़-फाड़ कर चिल्लाना भी क्या कोई प्रार्थना है! एक पूर्व दिशा की बुराई करता है एक पश्चिम की। एक संस्कृत की बुराई करता है एक अरबी की। कुसंस्कारों के कारण वह यह नहीं सोच सकता कि कभी किसी को स्वर संगीत की जरूरत होती है कभी शान्ति और निस्तब्धता की। जिसकी जैसी रुचि हो उसको उसी ढंग से काम करने देना चाहिये। खेद तो इस बात का है कि परनिन्दा आदि के संस्कार जितने डाले जाते हैं उतने असली धर्म के ( सत्य अहिंसा सेवा शील त्याग ईमानदारी आदि के ) नहीं डाले जाते। अगर असली धर्म की तरफ हमारा ध्यान आकर्षित किया जाय तो सभी धर्मों में हमें असली धर्म दिखाई देने लगे। और धर्म के नाम पर हम सब से प्रेम करने लगें, एक दूसरे के घर के समान एक दूसरे के धर्मस्थानो में जाने लगें, जिस विविधता में हमें विरोध दिखाई देता है उसमें अनेक रसवाले भोजन की तरह विविधता का आनन्द आने लगे। इसलिये बालकों के ऊपर ऐसे ही समभावी संस्कार डालना चाहिये जिससे वे एकरूपता के गुलाम न हों एकता के प्रेमी हों। इस प्रकार के संस्कारों से धर्मों का पारस्परिक विरोध दूर हो जायगा।

**५—सर्वज्ञता का अनुचित रूप**— प्रायः हर-एक धर्मवाले ने यह मानलिया है कि हमारे धर्म का प्रणेता सर्वज्ञ था। किसी ने मनुष्य को सर्वज्ञ माना, किसी ने ईश्वर को सर्वज्ञ मानकर अपने धर्म की जड़ वहाँ बताई। किसी ने अपने धर्म को अपौरुसपेय—प्राकृतिक—मानकर प्राणिमात्र की शक्ति से परे बताया। मतलब यह कि प्रायः हर एक धर्म का अनुयायी यह दावा करता है कि जो कुछ जानने का था वह सब जानलिया गया। उससे अधिक जाना नहीं जासकता। इससे अधिक जानने का जो दावा करते हैं वे झूठे हैं। सर्वज्ञता के इस अनुचितरूपने सुधार का और विकास का शास्त्र तो बन्द कर ही दिया, साथ ही अपने ही धर्म के समान जगकल्याण करनेवाले अन्य धर्मों का तिरस्कार कराया, घृणा कराई।

सर्वज्ञता की मान्यता अनेक तरह की है।

१— अनंतकाल और अनंतक्षेत्र के समस्त पदार्थों का प्रतिसमय युगपत् प्रत्यक्ष।

२— उपर्युक्त पदार्थों का क्रमसे प्रत्यक्ष।

३— किसी भी समय के किसी भी क्षेत्र के पदार्थ का इच्छानुसार प्रत्यक्ष।

४— समस्त शास्त्रों का ज्ञान।

५— धर्मशास्त्र का परिपूर्ण ज्ञान।

६— अपने जमाने की सब से बड़ी विद्वत्ता।

७— लोगों की जिज्ञासाओं को शान्त करने योग्य ज्ञान।

८-- आत्मज्ञान ।

९-- कल्याण मार्ग के लिये उपयोगी बातों का ानुभवमूलक पर्याप्त ज्ञान ।

१-- यह मान्यता असंभव और अनर्थकर है। समें बहुतसी बाधाएँ है । पहिली बाधा यह है के पदार्थ की अवस्थाएँ अनन्त हैं उन सबका प्रत्यक्ष करने क लिये एक अंतिम अवस्था का जानना जरूरी है परन्तु वस्तु की कोई अंतिम अवस्था ही नहीं है । तब उसका पूर्ण प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है । अंतिम अवस्था जान लेने पर वस्तु का अन्त आजायगा जोकि असंभव है। दूसरी बाधा यह है कि एक समय मे एक ही उपयोग हो सकता है अगर हम दस मनुष्यों को एक साथ देखें तो हमें सामान्य मनुष्यज्ञान होगा दस मनुष्यों का जुदा जुदा विशेषज्ञान नहीं । इसलिये अगर कोई त्रिकाल त्रिलोक का युगपत् प्रत्यक्ष करे तो उसे सब पदार्थों की सब अवस्थाओं में होनेवाली समानता का ज्ञान होगा । सब वस्तु और सब अवस्थाओं का ज्ञान नहीं ।

**प्रश्न**—बहुत से लोग एक ही समय में अनेक तरफ़ उपयोग लगा सकते हैं । साधारण लोग भी एक ही समय में बहुत सी चीजो का प्रत्यक्ष कर लेते हैं तब युगपत् प्रत्यक्ष मे क्या आपत्ति है ?

**उत्तर**—अग्नि की एक छोटी सी मशाल अगर जोर से घुमाई जाय तो वह मशाल जितनी जगह में घूमेगी उतनी जगह में सब जगह एक साथ दिखाई देगी पर एक समय में वह रहती है एक ही जगह । इसी प्रकार जब बहुत जल्दी जल्दी उपयोग बदलता है तब वह ऐसा मालूम होता है मानों सब जगह एक साथ है । यह एक भ्रम है जो शीघ्रता के कारण हो जाता है ।

तीसरी बाधा यह है कि असत् का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । जब पदार्थ किसी माध्यम के द्वारा हमारी इन्द्रिय और मन पर प्रभाव डालता है तब उसका प्रत्यक्ष होता है जो पदार्थ नष्ट हो हो चुके या पैदा ही नहीं हुए वे क्या प्रभाव डालेंगे तब उनका प्रत्यक्ष कैसे होगा इसलिये भी त्रिकाल त्रिलोक के पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता ।

२—क्रम से प्रत्यक्ष भी असंभव है। क्योंकि अनन्त क्षेत्र और अनंत काल का क्रम से प्रत्यक्ष किया जाय तो अनंत काल लग जायगा । और मनुष्य का जीवन तो बहुत थोड़ा है । इसलिये अनंत का क्रम से भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता ।

दूसरी बात यह है कि क्रम से प्रत्यक्ष में पहिले जानी हुई बातों की धारणा करना पड़ती है । जब मर्यादा से अधिक धारणा की जायगी तब पुरानी बातों की धारणा मिटने लगेगी । इस प्रकार क्रम से प्रत्यक्ष मे न तो सभी पदार्थ जाने जा सकते है और-अगर किसी तरह जाने भी जाँय तो-न उनका धारण करना सम्भव है ।

३—यह भी असम्भव है क्योकि असत् पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । बिना माध्यम के हम किसी पदार्थ को नहीं जान सकते ।

४ शास्त्र रचना की प्रारम्भिक अवस्था में ऐसी सर्वज्ञता सम्भव थी । अब शास्त्र नाम का वृक्ष इतना महान और शाखाप्रशाखा-बहुल हो गया है कि उन सब को छू सकना एक मनुष्य की शक्ति के बाहर है ।

पांच से आठ तक की परिभाषाएँ साधारणतः ठीक है । भूतकाल में इन परिभाषाओं का उपयोग भी काफी हुआ है । अन्तिम अर्थात् नवमी अधिक अच्छी है । तीर्थंकर पैगम्बर आदि इसी परिभाषा के अनुसार सर्वज्ञ होते है। इसलिये उनके

वचन काफी विश्वसनीय हैं।

इन सर्वज्ञों से अन्य विषयों के ज्ञान की आशा न करना चाहिये, और न अन्य विषयों में इनके वचन प्रमाण मानना चाहिये। धर्म के विषय में भी यही कहा जा सकता है कि वह अपने जमाने का सर्वज्ञ था। देशकाल पात्र के बदलने से जो जो परिस्थितियाँ पैदा हो सकतीं हैं और भविष्य में होजाँयगी उन सब का पूर्ण-ज्ञान उसे नहीं था, इसलिये आज अगर ऐसी परिस्थिति पैदा हो गई है जिसके लिये पुराने विधान काम नहीं देसकते तो हम जमाने के अनुकूल विधान बना लेना चाहिये, दूसरे धर्मों में अगर कोई विशेष बात पाई जाती है तो उसे अपना-लेना चाहिये, इस प्रकार सुधार के लिये सदा तैयार रहना चाहिये। अपने धर्म को परिपूर्ण और अपरिवर्तनीय न समझना चाहिये।

धर्मों में जो हमें विरोध या उच्चनीचता मालूम होती है उसके ये पाँच कारण हैं। इन पाँच कारणों के दूर कर देने पर हमारे हृदय में विवेकपूर्ण सर्वधर्म-सम-भाव आ सकता है। यह योगी का दूसरा चिह्न है, जो मानव समाज की एकता-प्रेम के लिये और भगवान सत्य के दर्शन के लिये आवश्यक है।

## ३ जाति-समभाव

योगी का तीसरा चिह्न जातिसमभाव है। हाथी घोड़ा सिंह ऊंट आदि जिस प्रकार एक एक तरह के प्राणी हैं उसीप्रकार मनुष्य भी एक तरह का प्राणी है। मनुष्य शब्द पशु शब्द की तरह नाना तरह के प्राणियों के समुदाय का वाचक नहीं है, किन्तु सिंहादि शब्दों की तरह एक ही तरह के प्राणी का वाचक है। यों तो व्यक्ति व्यक्ति में भेद हुआ करता है और उन भेदों का थोड़ा बहुत वर्गीकरण भी हो सकता है परन्तु उन वर्गों को जातिभेद का कारण नहीं कह सकते। जातिभेद के लिये सहज दाम्पत्य का अभाव और आकृति की अधिक विषमता आवश्यक है। मनुष्यों में ऐसी विषमता नहीं पाई जाती और उन में दाम्पत्य स्वाभाविक और सन्तानोत्पदक होता है। किसी भी जाति के पुरुष का सम्बन्ध किसी भी जाति की स्त्री से होने पर सन्तानोत्पत्ति होगी। शरीरपरिमाण या लिंगपरिणाम के अन्तर की बात दूसरी है। इससे माळूम होता है कि मनुष्य मात्र एक जाति है।

प्रायः सभी धर्मशास्त्रों में इस बात का उल्लेख मिलता है कि सभी मनुष्यों की एक जाति है आज जो इनके भेद प्रभेद दिखाई देते हैं वे मौलिक नहीं हैं। वातावरण आदि के कारण पैदा होने वाले भेद मनुष्य की एक जातीयता को नष्ट नहीं कर सकते।

वैदिक शास्त्रों में मनुष्यों को मनुसन्तान कहा है इससे उनमें एकजातीयता ही नहीं एक कौटुम्बिकता भी सिद्ध होती है। इसलाम और ईसाई धर्म के अनुसार सब मनुष्य आदम की सन्तान हैं इसलिये भी उनमें भाईचारा सिद्ध होता है। जैनशास्त्रों के भोगभूमि युग के वर्णन से मनुष्य मात्र की एक जाति सिद्ध होती है। इस प्रकार प्राकृतिक दृष्टि से और शास्त्रों की मान्यता से सब मनुष्यों की एक जाति सिद्ध होती है।

इतना होने पर भी आज मनुष्य जाति अनेक भागों में विभक्त है। इसके कारण कुछ भी हों, परन्तु इससे जो अधर्म हो रहा है, जो विनाश हो रहा है, दुःख और अशान्ति का जो विस्तार हो रहा है, वह मनुष्य सरीखे बुद्धिमान प्राणी के लिये लज्जा की बात है। बुद्धि तो

पशुओ मे भी होती है, परन्तु मनुष्य की बुद्धि कुछ दूर तककी बात विचार सकती है। लेकिन इस विषय मे उसकी विचारकता व्यर्थ जाती देखकर आश्चर्य और खेद होता है।

मनुष्य भी एक सामाजिक प्राणी है, बल्कि अन्य प्राणियो की अपेक्षा वह बहुत अधिक सामाजिक है। इसलिये सहयोग और प्रेम उसमें कुछ अधिक मात्रा मे और विशाल रूप में होना चाहिये। परन्तु जाति भेद की कल्पना करके मनुष्य ने सहयोग के तत्त्वका नाश सा कर दिया है; इससे अन्य अनेक अन्यायों और दुःखोंकी सृष्टि कर डाली है। जाति की कल्पना से जो कुछ हानियाँ हुई है और होती है उन में मुख्य मुख्य ये है।

१--विवाह का क्षेत्र संकुचित हो जाता है। इस से योग्य चुनाव मे कठिनाई होने लगती है। और अल्पसंख्यक होने पर जाति का नाश हो जाता है।

२--कभी कभी जब युवक-युवति में आपस मे प्रेम हो जाता है, और वह दाम्पत्य-रूप धारण करना चाहता है, तब यह जातिभेद की दीवाल उनके जीवन का नाश कर देती है। या तो उनको आत्महत्या करना पड़ती है अथवा बहिष्कृत जीवन व्यतीत करने से अनेक प्रकार की दुर्दशा भोगना पड़ती है।

३--जाति के नामपर बने हुए दल लड़-झगड़ कर एक दूसरे का नाश करते हैं। न खुद चैनसे बैठते है, न दूसरो को चैनसे बैठने देते है।

४--जातीय पक्षपात के कारण मनुष्य अपनी जाति के अन्याय का भी पोषण करता है, और दूसरी जाति के न्याय का भी विरोध करता है। अन्त में न्याय के पराजय और अन्याय के विजय का जो फल हो सकता है, वह मनुष्य-जाति को ही भोगना पड़ता है।

५--विवश होकर मनुष्य को कूपमंडूक बनना पड़ता है, क्योंकि वह घरके बाहिर निकल कर सजातीयों के अभाव से वहां टिक नहीं सकता। जब सारी जाति की जाति इस विषय मे विशेष उद्योग करती है, तब कहीं थोड़ा बहुत क्षेत्र बढ़ता है। परन्तु इस कार्य मे शताब्दियाँ लग जाती है तथा बाहिर निकलने पर भी कूप-मंडूकता दूर नहीं होती।

६--अपना क्षेत्र बढ़ाने के लिये दूसरी जातियों का नाश करना पड़ता है। इससे दोनों तरफ के मनुष्यो का नाश और धन-नाश होता है तथा चिरकाल के लिये वैर बन जाता है।

७--एक ऐसा अहकार पैदा होता है जिसे मनुष्य पाप नही समझता जब कि द्वेषात्मक तथा अनेक पापो का कारण होने से वह महापाप है।

८ ईमानदार मनुष्यों मे भी जातिभेद के कारण अविश्वास रहता है। इससे सहयोग नही होने पाता। इससे उन्नति रुकती है। लोकोपकारक संस्थाएँ भी पारस्परिक उपेक्षा और वैर के कारण सारहीन तथा अकिञ्चित्कर हो जाती है।

इस प्रकार की अनेक हानियाँ है। यदि जातिभेद की दुर्वासना को नष्ट कर दिया जाय तो इसमें सन्देह नही कि मनुष्यजाति के कष्टो का एक बड़ा भारी भाग नष्ट हो जाय। हाँ, सुविधा के लिये कुटुम्बी, सम्बन्धी तथा मित्र वर्ग की आवश्यकता प्रत्येक व्यक्ति को होती है, सो उसकी रचना हुआ करे। ये सब रचनाएँ तो

वैयक्तिक जीवन में समाजाती हैं। इनमें कोई जातिगत बुराई नहीं है। सम्बन्ध तो चाहे जिस मनुष्य के साथ किया जा सकता है और उसे मित्र भी बनाया जा सकता है। इसलिये इसमें जन्मगत या उसके समान कट्टरता नहीं है और न इसका क्षेत्र इतना विशाल हो सकता है कि समाज को क्षुब्ध करनेवाला बुरा असर डाल सके।

जातिभेद की कल्पना के द्वार अगणित हैं अहंकार का पुजारी यह मनुष्य-प्राणी न जाने कितने ढंग से जातिमद की पूजा किया करता है। उन सब का गिनाना तो कठिन है और उनको गिनाने की इतनी जरूरत भी नहीं है, क्योंकि जातिमद के दूर हो जाने से उसके विविधरूप दूर हो जाते हैं। फिर भी स्पष्टता के लिये उदाहरण के तौर पर उनपर विचार कर लेना उचित है, जिससे यह मालूम हो जाय कि किस तरह का जातिभेद किस तरह की हानि कर रहा है, और उसे हटाने के लिये हमें क्या करना चाहिये।

**वर्ण भेद**—वर्णभेद शब्द ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि भेदों के लिये प्रसिद्ध है। परन्तु यहाँ वर्ण शब्द का यह अर्थ नहीं है, उसका सीधा अर्थ रंग है। जिन लोगों के यहाँ छोटा छोटा जातिभेद नहीं है, उनके यहाँ भी भूरी, पीली, काली लाल जातियों का भेद बना हुआ है। चीन और जापान पीली जाति के लोग माने जाते हैं। इससे अवशिष्ट एशिया के अन्य दक्षिणी प्रदेशों का बहुभाग तथा आफ्रिका के मूल निवासी काली-जाति के माने जाते है। अमेरिका में भी ये लोग बसे हुए हैं। अमेरिकाके मूलनिवासी लाल जाति के [ रेड इंडियन ] कहलाते हैं जिनकी संख्या अब बहुत थोड़ी है। यूरोपीय लोग, वे यूरोप में हों या अन्यत्र, भूरी जाति के लोग कहलाते है। यह जातिभेद व्यक्त या अव्यक्त रूप में बहुत जगह फैला हुआ है।

इसी रंग भेद की जातीयता का फल है कि एक रंगवाले लोगों ने दूसरी जातियो के, खासकर आफ्रिका की काली जाति के लोगों को पशु की तरह बेचा सताया और मौत के घाट उतारा। कानून में उनकी हत्या का कोई दंड नहीं था। अभी भी यह रोग गया नहीं है पहिले से कम, फिर भी काफी मात्रा में यह भेद बना हुआ है। आज भी लोग जिन्दे जलाये जाते हैं आज भी रंगभेद के अनुसार कानून में विषमता मौजूद है।

यह वर्णभेद मौलिक है, यह बात कोई सिद्ध नहीं कर सकता। जहां हम रहते हैं, वहाँ के जलवायु का जो प्रभाव हमारे शरीर पर पड़ता है, उसीसे हम काले गोरे आदि बन जाते हैं। वही रंग सन्तान प्रति सन्तान से आगे की पीढ़ी को मिलता जाता है। परन्तु अगर जलवायु प्रतिकूल हो तो कई पीढ़ियों मे वह बिलकुल बदल जाता है। हाँ, इसमें सैकड़ों वर्ष अवश्य लग जाते हैं क्योंकि जलवायु का प्रभाव बाहिरी होता है और माता-पिता के रजवीर्य का प्रभाव भीतरी। परन्तु मौलिक रूप मे यह रंग-भेद शीत उष्ण आदि वातावरण के भेद का ही फल है। गोरी-जातियाँ अगर गरम देशों में बस जाँय तो कुछ शताब्दियों के बाद वे काली हो जाँयगी। और काली जातियाँ अगर ठंडे देशो में बस जाय तो वे कुछ शताब्दियों के बाद गोरी हो जांयगीं। इसलिये काले गोरे आदि भेदों से मनुष्य-जाति के टुकड़े कर डालना, न्याय की पर्वाह न करके

एक रंग का दूसरे रंग पर अत्याचार करना मनुष्यता का दिवाला निकाल देना है।

मनुष्य की जो मौलिक विशेषताएँ है, वे सभी रंग के मनुष्योंमें पाई जाती हैं। गोरे मनुष्य दयालु भी होते हैं और क्रूर भी, ईमानदार भी होते हैं, और बेईमान भी। यही हाल काले, पीलें आदि का भी है। एक काला आदमी गोरे की सेवा करे, सहायता दे और दूसरा गोरा आदमी उसे धोखा दे, लूटले, तो उस गोरे को वह काला आदमी अच्छा मालूम होगा और वह गोरा बुरा। मनुष्यता की, हृदय की, न्यायकी आवाज यही है। मनुष्य पशुओं तक से मित्रता रखता है। एक गोरा मनुष्य काले घोड़े से प्रेम कर सकता है, और एक काला आदमी सफेद घोड़े से, तब रंगभेद के कारण मनुष्य मनुष्य से भी प्रेम न कर सके, यह कैसी आश्चर्यजनक मूढ़ता है!

सभी के दिन एकसे नहीं जाते। कभी एक रंगवालें का प्रभुत्व होता है, कभी दूसरे रंगवालो का। उन्नत अवस्था में दूसरों को उन्नत बनाना मनुष्यता है, उनको पीस डालने की चेष्टा करना मनुष्यता का नाश है। इससे वंश परम्परा के लिये वैर ही बढ़ता है, और बारी बारी से सभी का नाश होता है। और वर्तमान मे भी हम चैन से नहीं रहने पाते। ईमानदारी प्रेम आदि सद्गुण ही एक दूसरे को सुख देनेवाले हैं। ये जिनमें हों उन्हें ही अपना मित्र, बन्धु और सजातीय समझना चाहिये, भले ही वे किसी भी रंग के हों। जिन मे ये न हों उन्हें ही विजातीय समझना चाहिये फिर भले ही वह अपना सगा भाई ही क्यो न हो। इस प्रकार की निःपक्षता को अगर हम रख सके और उसका उदारता से उपयोग कर सकें तो मनुष्य में जो पशुत्व है उसका अधिकांश दूर हो जाय, ईर्ष्या, अशान्ति आदि का तांडव कम हो जाय। अगर ऐसा न होगा तो एक दिन ऐसा आयगा जब दुनियां के मनुष्य रंगों के नामपर दो दल में बँटकर राक्षसी-युद्ध करेंगे और जिसकी परम्परा सैकड़ों वर्षों तक जायगी और उस अग्नि में मनुष्य जाति स्वाहा हो जायगी।

जातिभेद को तोड़ने का उपाय तो हृदय की उदारता ही है। परन्तु इसका एक मुख्य निमित्त पारस्परिक विवाह सम्बन्ध है। जाति के नामपर मनुष्य मात्र में वैवाहिक-क्षेत्र की कैद न होना चाहिये। अगर अधिक परिमाण में ऐसे विवाह सम्बन्ध होने लगे तो दोनों के बीचका अन्तर अवश्य ही कम हो सकता है। हाँ, इस काम मे विवाह-सम्बन्धी समस्त सुविधाओं का खयाल अवश्य रखना चाहिये।

कहा जाता है कि काली, गोरी आदि जातियों के शरीर में गन्धकी एक विशेषता होती है जो एक दूसरे को दुर्गंध मालूम होती है। यह ठीक है। मैं पहिले ही कह चुका हूँ कि यह रंगभेद जलवायु, भोजन आदि के भेदसे सम्बन्ध रखता है। इसलिये वर्णके समान गंधमें भी थोडा बहुत भेद हो, यह स्वाभाविक है। परन्तु यह तो व्यक्तिगत बात है। अगर विभिन्न वर्णके दम्पति में प्रेम है, शारीरिक मिलन में भी उन्हें कष्ट नहीं मालूम होता तो इसमें किसी तीसरेको या समाजको कुछ कहने की क्या जरूरत है? इसमें दोनोंको ही अपना अपना खयाल कर लेनाचाहिये।

जिनमें यह वर्णाभिमान अच्छी तरह घुसा हुआ है, किन्तु नैतिक दृष्टि से जब ये इस जाति-

मद का सहारा नहीं लेपाते, तब इस प्रकार की छोटी छोटी बातों को अनुचित महत्त्व देने लगते हैं। अगर गंधभेद की यह बात इतनी भयंकर होती तो भारत में यूरेशियन—जो कि अपने को ऐंग्लोइंडियन कहते हैं—क्यों बनते? अमेरिका आदि देशों में इतना विरोध रहने पर भी ऐसे सम्बन्ध होते ही हैं। भारतीयों के पूर्वज भी ऐसे सम्बन्ध कर चुके हैं, इसलिये आज भी उनमें काले गोरे का भेद बना हुआ है, और यह भेद छोटी छोटी उपजातियों में भी पाया जाता है। फिर जातियो में ही क्यों? प्रत्येक व्यक्ति के शरीर की गंध जुदी होती है, परन्तु इसीसे वैवाहिक सम्बन्ध का विस्तार नहीं रुकता। बल्कि वैवाहिक सम्बन्ध के लिये अमुक परिमाण में शारीरिक विषमता आवश्यक और लाभकर मानी जाती है; इसीलिये बहिन भाई का विवाह शारीरिक दृष्टि से भी बुरा समझा जाता है। स्त्री-पुरुष के शरीर में ही रूप, रस, गंध, स्पर्श की विषमता अमुक परिमाण में पाई जाती है। इसलिये ऐसी विषमताओं की दुहाई देकर मनुष्यजाति के टुकड़े नहीं करना चाहिये। अगर इस विषय पर कुछ विचार भी करना हो तो यह विचार व्यक्ति पर छोड़ना चाहिये। विवाह करनेवाला व्यक्ति इस बात को विचार ले कि जिसके साथ मैं सम्बन्ध जोड़ रहा हूँ उसकी गंध और रंग स्पर्श आदि मुझे सह्य हैं कि नहीं। यदि उसे कोई आपत्ति न हो तो फिर क्या चिन्ता है? एक बात और है कि कोई भी गंध हो, जिसके संसर्ग में हम आते रहते हैं उसकी उग्रता या कटुता चली जाती है। एक शाकभोजी, मछलियों के बाजार में वमन कर देगा, परन्तु मछुओं को वहां सुगन्ध ही आती है। इसलिये गंधादि की दुहाई देना व्यर्थ है। हां, कोई शारीरिक विकार ऐसा हो जिस का दूसरे के शरीर पर बुरा प्रभाव पड़ता हो तो बात दूसरी है, उसका बचाव अवश्य करना चाहिये। परन्तु ऐसे शारीरिक विकार एक जाति उपजाति के भीतर भी पाये जा सकते हैं और दूर के जातिभेद में भी नहीं पाये जा सकते हैं। इसलिये जातिभेद के नाम पर इन बातों पर ध्यान देने की जरूरत नहीं है।

इस जातिभेद के नाम पर एक आक्षेप यह भी किया जाता है कि इस प्रकार के वर्णान्तर-विवाहों से सन्तान ठीक नहीं होती। अमुक जगह कुछ गोरोंने हब्शी स्त्रियों से शादी की परन्तु उन की सन्तान गोरों के समान वीर, साहसी और बुद्धिमान न निकली। यह आक्षेप भी शताब्दियों के अंध-संस्कार का फल है। ऐसे आक्षेप करते समय वे उसके असली कारणों को भूल जाते है। वे यह भूल जाते है कि जिस बालकको समाज में लोग बराबरीकी दृष्टि से नहीं देखते उसे नीच पतित और विजातीय समझकर थोड़ी बहुत घृणा रखते हैं, उसमें उस समाजके गुण नहीं उतरते। बच्चे को यदि समाज से बाहर कर दिया जाय तो पशु में और उसमें कुछ अन्तर न होगा। अभी भी मनुष्य में जातिमद इतना अधिक है कि वर्णान्तर विवाह होने पर भी साधारण मनुष्य उससे घृणा ही करता है। फल यह होता है कि ऐसे विवाह की सन्तान को एक प्रकार का असहयोग सहन करना पड़ता है। इसलिये समाज के गुण बालकको अच्छी तरह नहीं मिलते। दूसरा कारण यह है कि संतान के ऊपर माता और पिता दोनों का थोड़ा थोड़ा प्रभाव पडता है। अब अगर उसमें से एक पक्ष अच्छा हो और दूसरा पक्ष हीन हो तो यह स्वाभा-

विक है कि संतति मध्यम श्रेणी की हो। इसलिये अपने अनुरूप व्यक्ति से सम्बन्ध जोड़ना चाहिये। ऐसी हालत में संतति अवश्य ही अपने अनुरूप होगी। वीरता, बुद्धिमत्ता सदाचार आदि गुण ऐसे नहीं है कि उनका ठेका किसी जातिविशेष ने लिया हो। सभी जातियों में इन गुणों का सद्भाव पाया जाता है। अगर कहीं किसी बात की बहुलता देखी जाती है तो उसका कारण परिस्थिति है, जाति नहीं। परिस्थिति के बदलने से बुरी से बुरी जाति का मनुष्य अच्छा से अच्छा हो जाता है। आफ्रिका के जो हब्शी अभी जंगली अवस्था में रहते हैं, सदाचार और सभ्यताका विचार जिनमें बहुत ही कम पाया जाता है, उन्हीं में से बहुत से हब्शी अमेरिका में बसने पर अमेरिकनो सरीखे सभ्य सुशिक्षित हो गये है, हालाँकि उनको जैसे चाहिये वैसे साधन नही मिले। इससे माल्रम होता है कि किसी भी गुण का ठेका किसी जाति विशेष-वर्णविशेष—ने नही लिया है।

इसका यह मतलब नहीं है कि एक सुसभ्य नागरिकको जंगली लोगो से वैवाहिक सम्बन्ध अवश्य स्थापित करना चाहिये। उदारता के नाम पर अनमेल विवाह करने की कोई जरूरत नहीं है जरूरत सिर्फ़ इस बात की है कि हम जातिभेद के नाम पर किसी को वैवाहिक सम्बन्ध मे जुदा न समझें। एक जंगली व्यक्ति के साथ हम सम्बन्ध नही करते इसका कारण यह न होना चाहिये कि उसकी जाति जुदी है किन्तु यह होना चाहिये कि उसकी शिक्षा, सभ्यता, स्वभाव आदि से मेल नहीं खाता। जाति के नामपर जब हम किसी के साथ सम्बन्ध नहीं करते, तब उसका अर्थ यह होता है कि अगर वह सब बातो में हमारे समान और अनुकूल हो जाय तो भी हम उसे जुदा ही समझेंगे। इस प्रकार हमारा भेदभाव सदाके लिये होगा। यही एक बड़ा भारी अनर्थ है। इसलिये जातिभेद को दूर करने के लिये हम इस बात का दृढ़ निश्चय करलें कि अगर हमें किसीके साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ना है तो इसके कारण मे हज़ार बात कहें परन्तु उनमें जातिभेद का नाम न आना चाहिये। सच्चे दिल से इस बात का पालन करना चाहिये।

**राष्ट्रभेद**– जातिभेद के अन्य रूपों मे राष्ट्र के नाम पर बने हुए जातिभेद मे एक बड़ा भारी भेद है। अन्य जातिभेद राजनीति से परम्परा-सम्बन्ध रखते है और बहुत सी जगह नहीं रखते हैं; परन्तु राष्ट्र के नाम पर बना हुआ जातिभेद राजनीति के साथ साक्षात् सम्बन्ध रखता है। और इसके नामपर बात की बात में तलवारें निकल आती हैं, मनुष्य भाजी-तरकारी की तरह काटा जाने लगता है, और इसे कहते हैं देशप्रेम, देशभक्ति, देशसेवा आदि।

राष्ट्र या देश आखिर है क्या वस्तु? पर्वत, समुद्र आदि प्राकृतिक सीमा से रुद्ध मनुष्यों के निवासस्थान ही तो है। परन्तु क्या ये सीमाएँ मनुष्यों के हृदय को कैद कर सकती हैं? क्या ये मिट्टी के ढेर और पानी की राशि मनुष्यता के टुकड़े टुकड़े करने के लिये है? इन सीमाओ को तो मनुष्य ने इतिहासातीत काल से पार कर लिया है। न पहाड़ों के अभ्रङ्कश शिखर उसकी गति को रोक सके है, न अगाध जलराशि। और आज तो मनुष्यजाति ने इन पर इतनी अधिक विजय पाई है कि मानो ये सीमाएँ उसके लिये हैं ही नहीं। फिर समझमे नहीं आता कि मनुष्य सीमाओं

से घिरे हुए इन स्थानों के नामपर क्यों अहंकार करता है? क्यों लड़ता है? क्यों मनुष्यता का नाश करता है?

राष्ट्रीयता का जब यह नशा मनुष्य के सिर पर भूत की तरह सवार होता है, और जब मनुष्य हुंकार हुंकार कर दूसरे राष्ट्र को चबा डालना चाहता है, तब नक्कारखाने मे तूती की आवाज़ की तरह मनुष्यता का यह संदेश उसके कानो में नहीं पहुँचता। परन्तु नशा उतरने के बाद जब उसके अंग अंग ढीले हो जाते हैं, तब वह अपनी मूर्खता का अनुभव करता है। परन्तु शराबी इतने ही अनुभव से शराब नहीं छोड़ता। यही दशा राष्ट्रीयता के नशेबाजो की है। वे नशेके कटु अनुभव को शीघ्र ही भूलकर फिर वही नशा करते हैं। इस प्रकार राष्ट्रीयता के नशेसे चिरकाल से मनुष्यजाति का ध्वंस होता आ रहा है।

बड़े बड़े साम्राज्य खड़े हुए, जिनने मनुष्य-जाति के अस्थि-पञ्जरों से अपना सिंहासन बनाया कराहती हुई मनुष्यता की छाती पर जिनने रत्न-जटित सिंहासन जमाये; पर कुछ समय का उन्मादी अत्याचारी-जीवन व्यतीत करके अंत मे धराशायी हो गये।

साम्राज्यवाद की यह भयंकर प्यास और राष्ट्रीयता का उन्माद प्रायः समस्त स्वतंत्र राष्ट्रों को अशान्त और पागल बनाये हुए है। राज्य की जो शक्तियाँ मनुष्य की सुख-शान्ति के बढ़ाने में काम आ सकती हैं, उनका अधिकांश मनुष्य के संहार में लगा हुआ है। राज्य की आमदनी का बहुभाग सेना और लड़ाई की तैयारी में खर्च होता है, मशीनें मनुष्य संहार की सामग्री तैयार करने में लगी हुई हैं, वैज्ञानिकों की अधिकांश शक्तियाँ मनुष्य-संहार के आविष्कार में डटी हुई हैं, मानों इस पागल मनुष्यजाति ने मनुष्यजाति को नष्ट करना अपना ध्येय बनालिया हो, आत्महत्या या नरककी सृष्टि करना ही इसका उद्देश्य बन गया हो।

यदि ये ही शक्तियाँ प्रकृति पर विजय पाने मे, उसका रहस्योद्घाटन करने में, उसके स्तनोंसे अमृतोपम दूध पीने में, मनुष्य की मनुष्यता अर्थात मनुष्योचित गुणोके विकास करने में लगाई जातीं तो सबल और निर्बल सभी राष्ट्र आजकी अपेक्षा बहुत अधिक सुखी होते। जो आज असभ्य, अर्धसभ्य तथा निर्बल है, वे सबल और सभ्य बने होते और जो सबल है, सभ्य कहलाते है, वे घृणापात्र होने के बदले आदर-पात्र बने होते इस प्रकार उन्हें भी शान्ति मिली होती, तथा दूसरो को भी शान्ति मिली होती।

एक न एक दिन मनुष्य को यह बात समझना पड़ेगी। इस राष्ट्रीयता के उन्माद के कारण प्रत्येक राष्ट्र की प्रजा तबाह हो रही है। जिस प्रकार लुटेरे बड़ी बड़ी लूटे करके भी चैन से रोटी नहीं खा सकते, और आपस में ही एक दूसरे से डरते हैं, यही हालत साम्राज्यवादी लुटेरे राष्ट्रोंकी हो रही है। हरएक देशकी प्रजा-पर लड़ाई के करका बोझ इतना भारी है कि उसकी कमर टूटी जा रही है, और भय तथा चिन्ता के मारे चैनसे नींद नहीं आती। मनुष्य आज अपनी ही छाया से डरकर काँप रहा है, मनुष्य जाति अपने ही अंगो से अपने अंग तोड़ रही है। प्राचीन युग में जिस प्रकार छोटे छोटे सरदार दल बाँधकर आपस में लड़ने में अपना जीवन लगा देते थे, इस प्रकार कभी दूसरो को सताते थे, और कभी दूसरों से सताये जाते थे, इसी प्रकार आज मनुष्य जाति राष्ट्रीयता के क्षुद्र स्वार्थों के नाम पर लड़ रही है। पुराने सरदारों

मनोवृत्ति पर आज का मनुष्य हँसता है, ा वही मनोवृत्ति कुछ विशालरूप में । के उन्माद में नहीं है ? क्या वह भी ायक नहीं है ? क्या मनुष्य किसी दिन इस मूर्खता और क्षुद्रताको न समझेगा ?

हाँ कभी कभी मनुष्य मे राष्ट्रीयता पवित्र । भी आती है, वह तब, जबकि वह मनु- की दासी-पुत्री-अंग बन जाती है । उस वह मनुष्यता का विरोध नहीं करती, सेवा । है । सिपाही यदि सरकार का सेवक बन हमारे पास आवे तो हम उसका आदर करेंगे तु यदि वह स्वयं सरकार बनकर हमारे सिर सवारी गाँठना चाहे तो वह हमारा शत्रु है । ी प्रकार जब राष्ट्रीयता, मनुष्यता की दासी कर, मनुष्यता के रक्षणके लिये आती है तब ह देवी की तरह पूज्य है । परन्तु जब वह नुष्यता का भक्षण करने के लिये हमारे पास ाती है तब वह शत्रुके समान है । मनुष्यताके क्षण के लिये, जीवन की शांति के लिये, हमें उसका परित्याग करना चाहिये ।

यदि एक राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र के ऊपर आक्रमण करता है, उसे पराधीन बनाता है, या बनाये हुए है, इसलिये पीड़ित राष्ट्र अगर राष्ट्रीयता की उपासना करता है, तो यह मनुष्यता की ही उपासना है, क्योंकि इसमे अत्याचार या अत्याचारीका ही विरोध किया जाता है, मनुष्यता का नहीं । जिस प्रकार हिंसा पाप होने पर भी आत्मरक्षण [ अन्याय्य आक्रमण से अपने को वचाना ] में होनेवाली हिंसा पाप नहीं है, उसी प्रकार राष्ट्रीयता पाप होने पर भी आत्मरक्षण के लिये— अत्याचार के विरोध के लिये—राष्ट्रीयता की उपासना पाप नहीं है । बल्कि जो राष्ट्र से भी छोटी छोटी दलबन्दियों के चक्कर में पड़ कर राष्ट्रीयता से भी अधिक मनुष्यता का नाश कर रहे हैं, उनके लिये राष्ट्रीयता आगे की मंजिल है । इसलिये वे अभी राष्ट्रीयता की पूजा करके मनुष्यता की ही पूजा करेंगे । उनकी राष्ट्रोपासना दूसरों के कट्टर राष्ट्रीयतारूपी पाप को दूर करने के लिये होगी ।

राष्ट्रीयता के ऐसे अपवादों को छोड़कर अन्य किसी ढंग से राष्ट्रीयता की उपासना करना मनुष्य जाति के टुकड़े करके उसे विनाश के पथपर आगे बढ़ाना है । राष्ट्र को जाति का रूप दे देना तो एक मूर्खता ही है । मनुष्य में कोई जाति तो है ही नहीं, परन्तु जिनको मनुष्यने जाति समझ रक्खा है, उनका मिश्रण प्रत्येक जाति में हुआ है । भारतवर्ष में आर्य और द्रविड़ मिलकर बहुत कुछ एक हो गये है । शक, हूण आदि भी मिल गये है । मुसलमानों के साथ भी रक्त-मिश्रण हो गया है । अमेरिका तो अभी कल ही अनेक राष्ट्रों के लोगो से मिलकर एक राष्ट्र बना है । इसी प्रकार दुनियाँ के अन्य किसी भी देशके इतिहास को देखो तो पता लगेगा कि उस में अनेक तरह के लोगों का मिश्रण हुआ है । इससे माळूम होता है कि राष्ट्र-भेद से भी जाति-भेद का कोई सम्बन्ध नहीं है । इस दृष्टि से भी मनुष्य-जाति एक है ।

अहंकार का पुजारी यह मनुष्य कभी कभी पाप की पूजा को भी धर्मपूजा का रूप देता है शैतान को खुदा के वेष में सजाता है और स्तुति के लिये अच्छे शब्दों की रचना करता है । वह अहंकारपूर्ण कट्टर राष्ट्रीयता की पूजा के लिये सभ्यता संस्कृति आदि की दुहाई देता है । परन्तु जुदे जुदे देशोंकी सभ्यता संस्कृति आदि आखिर

क्या बला है ? और उसकी उपासना का क्या अर्थ है ? वेषभूषा और भाषा को अगर किसी राष्ट्रकी सभ्यता और संस्कृति कहा जाय तब तो उसकी दुहाई देना व्यर्थ है। प्रत्येक देशकी भाषा कुछ शताब्दियों के बाद बदलती रही है। जो प्राकृत भाषाएँ दो हजार वर्ष पहिले भारत में प्रायः सर्वत्र बोली जाती थीं और जो अपभ्रंश भाषाएँ हजार वर्ष पहिले ही प्राकृत की तरह बोली जाती थीं, आज इनेगिने पंडितों को छोड़कर उन्हें कोई समझता भी नहीं है, फिर बोलने की तो बात ही दूर है। अगर भाषा का नाम संस्कृति हो तब तो हम उसका त्याग ही कर चुके हैं। यह बात दूसरी है कि अहंकार की पूजा करने के लिये हम उन मृत भाषाओं के नाम के गीत गाते हों, परन्तु हमारे जीवन में उनका कोई व्यावहारिक स्थान नहीं रह गया है। लेटिन, संस्कृत आदि सभी भाषाओं की यही दशा है। इसलिये वह सभ्यता तो गई।

वेष-भूषा बदलने के लिये तो शताब्दियाँ नहीं, दशाब्दियाँ ही बहुत हैं। भारत के आर्य जो पोशाक पहिना करते थे, उसका कहीं पता भी नहीं है। उसके आगे की न जाने कितनी पीढ़ियाँ गुजर गईं ? उत्तरीय वस्त्र के पीछे अंगरखा, कुरता, कोट, कमीज़ आदि पीढ़ियाँ चली आतीं हैं। वही बात नारियों की पोशाक के विषय में है। वाहन, नगर-रचना आदि सभी बातों में विचित्र परिवर्तन होगये हैं। संसार के सभी देशों की यह दशा है। पुराने युग के चित्र तो अब अजायबघरों और नाटक-सिनेमा के ऐतिहासिक चित्रणों में ही देखने मिलते हैं। सभ्यता और संस्कृति के नाम पर उन पुरानी चीजों को छाती से चिपटाए रहने की ज़रूरत नहीं रही है। सभ्यता और संस्कृतियों के नाम पर एक भारत-वासी अंग्रेज गर्मीके दिनों में भी जब अपनी चुस्त पोशाक से अपने शरीर को बंडलकी तरह कस डालता है, तब उसका यह पागलपन अजायबघर की चीज़ होता है। परन्तु यह पागलपन सभी देशों में पाया जाता है, इसलिये अजायबघर में कहाँ तक रक्खा जा सकता है ? संगमर्मरको भी गोबर से लीपना, बिजली के उजेले में भी समाई जलाना शायद संस्कृति और सभ्यता का रक्षण है ! वास्तव में इस प्रकार के अंधअनुकरणों को संस्कृति और सभ्यता की रक्षा कहना उन अच्छे शब्दों की मिट्टी पलीत करना है।

मनुष्य, जन्म के समय पशु के समान होता है। उसको युग के अनुरूप अच्छा से अच्छा मनुष्य बनाने के लिये जो प्रभावशाली प्रयत्न किया जाता है उसका नाम है **संस्कृति**, और दूसरे को कष्ट न हो इस प्रकार के व्यवहारका नाम है **सभ्यता**। इस प्रकार की सभ्यता और संस्कृति का रूढ़ियों के अंध-अनुकरण के साथ कोई सम्बंध नहीं है।

यदि किसी ज़माने में चोर डाकुओं के डरके मारे हम मकानों में अधिक खिड़कियाँ नहीं रखते थे, और अब परिस्थिति बदल जाने से रखते हैं तो इसका अर्थ सभ्यता और संस्कृति का त्याग नहीं है। समयानुसार स्वपरसुखवर्द्धक परिवर्तन करने से संस्कृति का नाश नहीं होता, बल्कि, संस्कृति का नाश होता है रूढ़ियों की गुलामी से। क्योंकि रूढ़ियों की गुलामी से बुद्धि-विवेक की कमी मालूम होती है जोकि मनुष्यत्व की कमी है, और जड़ता की वृद्धि मालूम होती है जोकि पशुत्व की वृद्धि है। संस्कृति का काम प्राणी को पशुत्व से मनुष्यत्व की ओर ले जाना

है, न कि मनुष्यत्व से पशुत्व की ओर लौटाना। यदि कोई देश अपनी पुरानी अनावश्यक चीजों से चिपट रहा है और दूसरों के अच्छे तत्वों को ग्रहण नहीं कर रहा है या ग्रहण करने में अपमान समझ रहा है तो वह संस्कृति की रक्षा नहीं, नाश कर रहा है।

भोगोपभोग की पुरानी चीजों के रक्षण में सभ्यता और संस्कृति नहीं रहती। यदि पुराने ज़माने में हमारे पास शंख से अच्छा बाजा नहीं था तो इसका यह अर्थ नहीं है कि हमारी सभ्यता और संस्कृति शंख में जा बैठी है। यदि किसी देश में आम नहीं थे, खजूर थे, तो इसका भी यह मतलब नहीं है कि उसकी सभ्यता खजूर पर लटक रही है। मनुष्य एक समझदार प्राणी है, इसलिये उसका काम है कि उसके वर्तमान युग में जो जो अच्छी, सुलभ और दूसरों को हानि न पहुँचानेवाली वस्तुएँ हों उनका उपयोग करे। इसी बुद्धिमत्ता में उसकी संस्कृति और सभ्यता है। पुराने ज़माने की अविकसित वस्तुओं को अपनाये रहने में सभ्यता और संस्कृति की रक्षा नहीं है।

इसके विरोध में यह बात अवश्य कही जा सकती है कि-"कोई देश यंत्रों के द्वारा फैली हुई बेकारी को दूर करने के लिये चरखा-युग का सहारा ले, दूसरों के आर्थिक आक्रमण से बचने के लिये पुरानी चीज़ों के उपयोग करने की ही कोशिश करे तो क्या इसको अनुचित कहा जायगा?"

आर्थिक आक्रमण से बचने के लिये यह मार्ग कहाँ तक ठीक है यह बात दूसरी है, परन्तु अगर कोई इसी दृष्टि से पुरानी चीज़ों का उपयोग करना चाहे तो इसमें मुझे बिलकुल विरोध नहीं है। उसकी दृष्टि उपयोगिता, सुविधा, सुखप्रदता, सुव्यवस्था पर होना चाहिये, न कि प्राचीनता पर, इनका प्रचार संस्कृति और सभ्यता के रक्षण के लिये नहीं, किन्तु समाज को रोटी देने के लिये होना चाहिये।

कोई भाई कहेंगे कि "जो नवयुवक मौज शौक में जीवन बिताकर सादगी छोड़कर अपने साहिबी खर्च से माँबाप को परेशान करते हैं, तो क्या उनको न रोकना चाहिये? इसीप्रकार अपने देश की वेषभूषा छोड़कर विदेशी वेशभूषा अपनाकर अपनी एक नई जाति बना लेते हैं, क्या उनका यह कार्य उचित है?"

निःसन्देह ये कार्य अनुचित हैं; परन्तु इस लिये नहीं कि वे विदेशी सभ्यता को अपनाते हैं, किन्तु इसलिये कि उनमें माँबाप को परेशान किया जाता है, अपने को अनुचित रूप में बड़ा या विशेष समझकर अभिमान का परिचय दिया जाता है, दूसरों का अपमान किया जाता है, उन्हें रोको, परन्तु प्राचीन संस्कृति या सभ्यता की दुहाई देकर नहीं, किन्तु आर्थिक सुविधा की दुहाई देकर, विनय और प्रेमकी दुहाई देकर।

इस प्रकार भोगोपभोग की सामग्री की दृष्टि से सभ्यता का जो रूप बताया जाता है वह तो बिलकुल व्यर्थ है। अब रह गया सभ्यता का मानसिक और कौटुम्बिक रूप। कहा जाता है कि "प्रत्येक देशकी एक विशेष मनोवृत्ति होती है। इंग्लैंड का मनुष्य मात्रासे कुछ अधिक गंभीर है, जब कि फ्रान्स का आदमी मात्रा से कुछ अधिक बातूनी। भारतके वायव्य कोण का मनुष्य या एक पठान स्वभावतः अधिक उग्र और असहिष्णु होगा, जब कि भारत का मनुष्य मात्रा से अधिक शान्त होगा। मनुष्य-स्वभाव की ये विशेषताएँ एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र को जुदा

करती हैं। अगर राष्ट्रीय-भेद न माना जाय तो ये विशेषताएँ नष्ट हो जाँय। क्या इनका नष्ट करना उचित है?''

इसके उत्तर में दो बातें कही जा सकती हैं। पहिली तो यह कि मनुष्य की ये विशेषताएँ स्वाभाविक नहीं हैं—वे राजनैतिक, आर्थिक आदि परिस्थितियों का फल हैं। बीस वर्ष पहिले टर्की और रूस के साधारण जनकी जो मनोवृत्ति थी और आज उसकी जो मनोवृत्ति है, अब्राहमलिंकन के पहिले अमेरिका के हब्शी की जो मनोवृत्ति थी और आज जो मनोवृत्ति है, रोमनसाम्राज्य के नीचे कचड़ाते हुए इंग्लेण्ड की जो मनोवृत्ति थी और आज जो मनोवृत्ति है, उनमें जमीन-आसमान से भी अधिक अन्तर है। आर्थिक, राजनैतिक आदि परिस्थितियों के बदल जाने से मनुष्य के स्वभाव में जो परिवर्तन हो जाता है, उसे राष्ट्रीयता न रोक सकती है, न रोकना चाहिये। इसलिये राष्ट्रीयता का इसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

दूसरी बात यह है कि राष्ट्रीय विशेपता होने से ही कोई वस्तु अच्छी नहीं हो जाती। अफीम खाना अगर किसी देशकी विशेपता हो, बात बात में उखड़ बैठना, मार बैठना, हत्या कर डालना अगर किसी देशकी विशेपता हो, अथवा स्त्रियों को पददलित करना अगर किसी देशकी विशेपता हो, तो उसे अपनाये रहना पाप है। ऐसी विशेपता का जितनी जल्दी नाश हो उतना ही अच्छा है। हमें विशेपता नहीं किन्तु उन गुणों का पुजारी होना चाहिये जो मानव-जीवन को सुखमय बनाते हैं। इसलिये हमारा यह महान कर्त्तव्य है कि हम राष्ट्रों की सब विशेपताओं को मिटा दें। जो विशेपताएँ खराब हैं दुःखकर हैं, उनको तो नाश करके मिटा देना चाहिये परन्तु जो विशेपताएँ सुखकर हैं अच्छी हैं उनको विना नाश किये मिटादेना चाहिये अर्थात उन का सभी राष्ट्रों में प्रचार कर देना चाहिये जिससे वे विशेपरूप छोड़कर सा[illegible] रूप धारण करलें।

ऊपर जो बात स्वभाव के विपय में क[illegible] गई है, वही बात कौटुम्बिक रीतिनीति के [illegible] में कही जा सकती है। जिन देशोंकी कौटु[illegible] व्यवस्था खराब है, वे अपनी वह कौटुम्बिक दुर्व्यवस्था छोडदें और किसी देशकी अच्छी से अच्छी कौटुम्बिक व्यवस्था अपना ले। अगर कोई [illegible] रहे भी तो परिस्थिति की दुहाई देकर रहना चाहि[illegible] राष्ट्रीयता सभ्यता आदि की दुहाई देकर नहीं

इस प्रकार किसी भी प्रकार की सभ्यता [illegible] संस्कृति की दुहाई देकर मनुष्य जाति के टुक[illegible] करने की कोई जरूरत नहीं है, बल्कि [illegible] करना पाप है। सभ्यता और संस्कृति मनुष्य [illegible] टुकड़े करने के लिये नहीं किन्तु उसके प्रेम [illegible] क्षेत्रको विशालतम बनाने के लिये हैं, उन्नति [illegible] लिये हैं, पारस्परिक सहयोग के लिये हैं। इसलि[illegible] राष्ट्र के नामपर चलता हुआ यह जातिभेद भ[illegible] नष्ट होना चाहिये।

कोई भाई कहेंगे कि 'यदि राष्ट्रीयता [illegible] करदी जायगी तब तो सबल राष्ट्र निर्बल र[illegible] को पीस डालेंगे, लूट डालेंगे और आपका [illegible] वक्तव्य उनके कार्योंको नैतिक बल प्रदान करेगा निर्बल राष्ट्र अगर सबल राष्ट्र के मालपर इ[illegible] कर लगायगा कि उसका व्यापार सुरक्षित [illegible] और उसकी आर्थिक अवस्था खराब न हो [illegible] बेकारी न बढ़ जाय तो आपके शब्दों में [illegible] राष्ट्रीयता की पूजा होने से पापरूप होगी। [illegible]

ृान्त से तो सबल राष्ट्र सबल होते जाँयगे
र निर्बल पिसते जाँयगे।"

इस प्रश्न का कुछ उत्तर दिया जा चुका है। क राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर अगर आर्थिक आक्रमण रता है तो आयात पर प्रतिबंध लगाकर उस ाक्रमण को रोकना अनुचित नहीं है। दूसरे ाष्ट्र में अगर राष्ट्रीय कट्टरता है और वह किसी ाष्ट्र पर आर्थिक आक्रमण करता है तो उसका उसी तरह सामना करना चाहिये; इसमें कोई ाप नहीं है। इतना ही नहीं किन्तु प्रत्येक राष्ट्र को–जबकि उसका शासनतंत्र जुदा है–कर्तव्य है कि वह आर्थिक योजना के रक्षण के लिये आयात निर्यात पर नियंत्रण रक्खे। इस आर्थिक योजना का प्रभाव समाज की सुख-शांति पर भी निर्भर है। मानलो एक राष्ट्र ऐसा है जो मजदूरोंसे दस घंटे काम लेता है और ऐसे यंत्रों का उपयोग करता है जिससे थोड़े आदमी बहुत काम कर सकते है, इससे बहुत से आदमी बेकार हो जाते है अथवा मजदूरो को सख्त मजूरी करना पड़ती है। परन्तु दूसरा राष्ट्र ऐसा है कि वह ऐसे यंत्रों का उपयोग करता है जिससे बेकारी न बढ़े, तथा वह मजदूरो से सख्त मिहनत भी नहीं लेना चाहता। ऐसी हालत में उसका माल मँहगा पड़ेगा। इसलिये आर्थिक दृष्टि से जीवित रहने के उसके सामने दो ही मार्ग होगे–या तो वह आयात पर प्रतिबंध लगावे, या मजदूरोसे ज्यादा मिहनत ले। मनुष्य की सुख शांति के लिये पहिला मार्ग ही ठीक है। इसलिये आयात पर कर लगाना उचित है। वास्तव में यह राष्ट्रीयता की पूजा नहीं, मनुष्यता की पूजा है। दूसरे देश पर आक्रमण करने में कट्टर राष्ट्रीयता है; परन्तु दूसरे के आक्रमण से अपनी रक्षा करने मे, अपनी सुखशान्ति बढ़ाने मे तो मनुष्यता की ही पूजा है।

इस विषय मे एक बात यह कही जा सकती है कि "यदि मनुष्यता के नामपर भी आयात निर्यात का प्रतिबंध बना ही रहा तब राष्ट्रीय कट्टरता का नाश कैसे होगा ? प्रत्येक राष्ट्र की कठिनाइयाँ बढ़ जाँयगी। मानलो कि एक राष्ट्र ऐसा है जिसमें लोहा और कोयला बहुत है, परन्तु कृषिके योग्य स्थान नहीं है; और दूसरा देश ऐसा है कि जो इससे उलटा है। अब यदि दूसरा देश पहिले के मालपर प्रतिबंध लगाये तो पहिला देश भूखा मर जायगा। ऐसी अवस्था में मनुष्यता की भावना कैसे रह सकती है ?"

यदि मनुष्य की भावना हो, अहंकार और आक्रमणका दुर्विचार न हो तो यह समस्या कठिन नहीं है। जिस राष्ट्र के पास अनाज नहीं है, वह अनाज के आयात पर प्रतिबन्ध क्यों लगायगा ? और जिसके पास लोहा नहीं है वह लोहेके आयात पर प्रतिबन्ध क्यो लगायगा ? इस प्रकारका माल तो आपस मे बदल लेना चाहिये। एक मालसे दूसरे मालका बदला लेना चाहिये। एक माल से दूसरे माल का बदला स्वेच्छा और सुविधा से करने में कोई आपत्ति नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार मे जो सम्पत्ति का माध्यम हो उसे खींचने की कोशिश न करना चाहिये। मानलो कि सोना माध्यम है, या चाँदी माध्यम है तो अपना माल अधिक से अधिक देने की कोशिश करना और बदले मे माल न लेकर सोना चाँदी लेना आक्रमण है। आक्रमण का विचार छोड़ दिया जाय और फिर जो अदला बदली हो उससे दोनो राष्ट्रों को लाभ होगा। इतने पर भी अगर किसी ऐसे देश की-जो प्राकृतिक सम्पत्ति से ग़रीब है-समस्या हल नही होती

तो उसका काम है कि वह किसी ऐसे देश से जुड़ जाय जो प्राकृतिक सम्पत्ति से अधिक पूर्ण हो। परन्तु दोनों में शास्य-शासक भाव न होना चाहिये, क्योंकि दो राष्ट्रों में शास्य-शासक भाव होना मनुष्यता की दिनदहाड़े हत्या करना है। जिन राष्ट्रों के पास जीवन-निर्वाह की पूरी सामग्री नहीं है, वे जनसंख्या का नियन्त्रण करें अथवा बढ़ी हुई जनसंख्या को किसी ऐसी जगह बसाने का प्रयत्न करें जहाँ जनसंख्या कम हो। परन्तु वहाँ जाकर अगर अपनी कोई विशेषता की रक्षा करने की कोशिश की जायगी, उसके लिये कोई विशेष सुविधा माँगी जायगी तो यह नीति सफल न होगी। इसलिये आवश्यक यह है कि जिस राष्ट्र में हम जाकर बसें वहाँ के निवासियों में हम मिल जावें। इसके लिये मनुष्योचित सद्गुणों को छोड़ने की या वहाँ के दुर्गुणों को अपनाने की ज़रूरत नहीं है; सिर्फ़ आत्मीयता प्रकट करने की, भाषा आदि को अपनालेने की तथा अपनी जातीय कट्टरता का त्याग करदेने की ज़रूरत है। इस नीति से न तो किसी राष्ट्र को भूखों मरना पड़ेगा न किसी को दूसरे राष्ट्र का बोझ उठाना पड़ेगा।

विश्वशान्ति और मनुष्य की उन्नति के लिये इस प्रकार की व्यवस्था आवश्यक है। जब तक मनुष्य राष्ट्र के नाम पर जातिभेद की कल्पना लिये रहेगा, तब तक वह एक दूसरे पर अत्याचार करता ही रहेगा। इसलिये एक न एक-दिन राष्ट्र के नाम पर फैले हुए जातिभेद को तोड़ना ही पड़ेगा। तभी वह चैन से बैठ सकेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय विवाह का रिवाज भी इसके लिये बहुत कुछ उपयोगी हो सकता है इसलिये उसका भी अधिक से अधिक प्रचार करना चाहिये। इस विषय में क़ानून का अन्तर है, परन्तु रूढ़िकी गुलामी दूर कर देने पर क़ानून की वह विषमता दूर हो जायगी और जो कुछ थोड़ी बहुत रह जायगी उसे सहन कर लिया जायगा। विवाह के पात्रों को यह बात पहिले ही समझ लेना चाहिये।

कहा जा सकता है कि यों ही तो नारी-अपहरण की घटनाएँ बहुत होती हैं। एक राष्ट्र की युवतियों को फुसला कर दूसरे राष्ट्र में ले जाना और वहाँ उन्हें असहाय पाकर वेश्या बना देना और उनकी शारीरिक शक्ति का क्षय होने पर उन्हें भिखारिन बनाकर छोड़ देना, ये सब घटनाएँ दिल दहलादेने वाली हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विवाहों से ये घटनाएँ और बढ़जायगीं, । यह भूल है, यह पाप एकही देश के भीतर भी हो रहा है। इसका अन्तर्राष्ट्रीय विवाह-पद्धति के प्रचार से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके हटाने के लिये सब सरकारों को मिलकर सम्मिलित प्रयत्न करना चाहिये, तथा इस प्रकार के लोगों के दमन के लिये विशेष क़ानून और विशेष प्रयत्न की ज़रूरत है।

राष्ट्रीय संस्कृति की विभिन्नता के कारण दाम्पत्य जीवन के अशान्तिमय हो जाने की बाधा भी बताई जा सकती है। परन्तु इसका उत्तर वर्ण-भेद के प्रकरण में दे चुका हूँ। यहाँ इतनी बात फिर कही जाती है कि राष्ट्रीय जातिभेद मिटजाने पर एक तो संस्कृति की विभिन्नता भी कम हो जायगी, दूसरी बात यह है कि यह सब व्यक्तिगत प्रश्न है। दोनों को पारस्परिक अनुरूपता का विचार कर लेना चाहिये, तथा एक दूसरे की मनोवृत्ति से परिचित हो जाना चाहिये। इस प्रकार राष्ट्रीयता की दीवालों को गिराने के लिये यह वैवाहिक-सम्बन्ध भी अधिक उपयोगी हो सकता है, और इससे मनुष्यजाति एक दूसरे के गुणों को शीघ्रता से प्राप्त कर सकती है।

इस प्रकार विश्वकी शान्ति तथा उन्नति के लिये आवश्यक है कि राष्ट्रीयता के नामपर फैले हुए जातिभेद का नाश करके मनुष्य जाति की एकता सिद्ध की जाय और व्यवहार में लाई जाय।

बड़े बड़े देशों में प्रान्तीयता का भी विष राष्ट्रीयता के विष के समान फैलता है यह तो और भी बुरा है। इस मे कट्टर राष्ट्रीयता का पाप तो है ही साथ ही मनुष्यता के साथ राष्ट्रीयता का नाशक होने से यह दुहरा पाप है।

**वृत्तिभेद**—अभी तक जो जातिभेद के रूप बतलाये गये है, उनके विषय में धर्मशास्त्रों में कोई विधिविधान न होने से वे धर्म के बाहर की चीज़ समझे जाते हैं। परन्तु आजीविका के भेद से जो जातिभेद बना, उसके विषय में धर्मशास्त्रों में बहुत से विधिविधान मिलते है, इसलिये बहुत से लोग धर्म के समान इसे भी समझने लगे हैं। सच पूछा जाय तो धर्म के साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। वृत्तिभेद से बना हुआ जातिभेद एक समय की आर्थिक योजना है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार भेद सभी देशो मे पाये जाते है; क्योंकि शिक्षण, रक्षण, वाणिज्य और सेवा की आवश्यकता सभी देशो को है। परन्तु इनके नामपर जैसा जातिभेद भारतवर्ष मे बना वैसा अन्यत्र नहीं। यहाँ आर्थिक योजना की दृष्टि से बनाये गये इन संघों का सम्बन्ध रोटी-बेटी व्यवहार से भी हो गया है, धार्मिक क्रियाकांडो से भी हो गया है, परलोक की ठेकेदारी से भी भी हो गया है।

जिस समय यह वर्णव्यवस्था की गई थी, उस समय इसका यही लक्ष्य था कि समाज मे आर्थिक सुव्यवस्था और शान्ति हो। जो जिस कार्य के योग्य है वह वही कार्य करे तथा अनुचित प्रतियोगिता से धन्धों को नुकसान न पहुँचे और न बेकारी की समस्या लोगों के सामने आवे। सैकडों वर्षोंतक इस व्यवस्था से भारतीयोने लाभ उठाया। परन्तु पीछे से जब अकर्मण्य और अयोग्य व्यक्तियों की अधिकता होगई तथा इस व्यवस्थाने अन्य धार्मिक सामाजिक अधिकारो को क़ैद कर लिया, तब इससे सर्वनाश होने लगा।

वर्णभेद के नाम से प्रचलित इस वृत्तिभेद का जाति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, और न मनुष्य जाति के विभाग करने का इसमें कोई गुण है। रंग-भेद से तो फिर भी कुछ शारीरिक भेद मालूम होता है, तथा देशभेद मे भाषाभेद आदि हो जाते है—यद्यपि इससे भी मनुष्य-जाति के भेद नहीं हो सकते—परन्तु वृत्तिभेद से तो इतना भी भेद नहीं होता। एक ही वंशमें पैदा होने वाले अनेक मनुष्यों की योग्यता में इतना अन्तर होता है कि उनमें कोई ब्राह्मण कोई क्षत्रिय कोई वैश्य और कोई शूद्र कहा जा सकता है।

इस वर्णभेद का मुख्य प्राण था आजीविकाकी व्यवस्था, सो इस दृष्टि से तो उसका सर्वनाश हो गया है। आज ब्राह्मण कहलाने वाले रोटी पकाते हैं, झाड़ू लगाते है, दूकानदारी करते है; क्षत्रिय कहलाने वाले खेती व्यापार करते है, अथवा कोई कोई अध्यापन आदि ब्राह्मण-वृत्ति करते है। वैश्य और शूद्र कहलाने वाले भी चारो वर्णकी आजीविका करते हैं। और जो लोग इस वर्णव्यवस्था में नहीं मानते वे भी सब कुछ करते है। इस प्रकार वर्णव्यवस्था का जो असली ध्येय था, वह तो शताब्दियों से नष्ट हो गया है। इस अवस्था में वर्णव्यवस्था की दुहाई देना व्यर्थ ही है। पुराने जमाने मे इस प्रकार

का नियम बनाने की कोशिश की गई थी कि "प्रत्येक मनुष्य को अपनी अपनी आजीविका करना चाहिये; अगर न करे तो शासकों से वह दण्डनीय हो, क्योंकि ऐसा न करने से वर्णसंकरता फैल जायगी अर्थात् वर्णव्यवस्था गड़बड़ हो जायगी।

आज इस प्रकार की वर्णसंकरता निर्विवाद और निर्विरोध फैली हुई है। ऐसी अवस्था में वर्णव्यवस्था की दुहाई देकर अहंकार और मूढ़ता की उपासना क्यों करना चाहिये? और अगर करना भी हो तो उसे कर्म से मानना चाहिये। कर्मसे वर्णव्यवस्था मानने की आवाज पुरानी है।

खैर, वर्णव्यवस्था को जन्म से मानो या कर्मसे मानो, परन्तु उसका सम्बन्ध आर्थिक योजनासे ही है, खानपान और बेटीव्यवहार से नहीं।

खानपान के विषय में हमें तीन बातों का विचार करना चाहिये—अहिंसा, आरोग्य, और स्वच्छता। भोजन ऐसा न हो जिसके तैयार करने में बहुत हिंसा हुई हो। इस दृष्टि से मांसादिक का त्याग करना चाहिये। इसका वर्णव्यवस्था से कोई सम्बन्ध नहीं; क्योंकि प्रत्येक वर्ण का आदमी इस प्रकार हिंसारहित भोजन कर सकता है। प्रकृति का कुछ ऐसा नियम नहीं है कि अमुक वर्ण के आदमी के हाथ लगने से ही भोजन मे अमुक परिमाण में हिंसा हो जाय। शरीर तो जैसा ब्राह्मण का होता है वैसा शूद्रका होता है, इसलिये एक दूसरे के हाथ का भोजन करने में हिंसा अहिंसा की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं आ सकता।

आरोग्य का तो वर्णव्यवस्था से बिलकुल संबंध नहीं है। वह भोजन की जाति और अपनी प्रकृति पर ही निर्भर है। तीसरी बात है स्वच्छता। सो स्वच्छता भी हर एक के हाथ से बने हुए भोजन में हो सकती है। हाँ, यह हो सकता है कि अगर अपने को मालूम हो जाय कि अमुक व्यक्ति के यहाँ स्वच्छता नहीं रहती तो हम उसके यहाँ भोजन न करेंगे। परन्तु अपने घर आकर अगर वह स्वच्छता से भोजन तैयार करदे तो हमारी क्या हानि है? अथवा अपने घर या अन्यत्र वह हमारे साथ बैठकर भोजन करले तो इसमें क्या अस्वच्छता हो जायगी? इसलिये स्वच्छताके नामपर भी वर्णभेद में सहभोजका विरोध करना निरर्थक है।

इस प्रकार सहभोजका विरोधी कोई भी कारण न होने पर भी लोगों के मनमें एक अन्धविश्वास जमा हुआ है कि अगर हम शूद्रके हाथ का खा लेंगे तो शूद्र हो जायँगे। अमुकके हाथ का खालेंगे तो जाति चली जायगी। अगर सचमुच यह बात होती तो अभीतक हमारी मनुष्यता कभी की चली गई होती। भैंस का दूध पीते पीते हम भैंस हो गये होते और गाय का दूध पीते पीते गाय हो गये होते। अगर पशुओं का दूध पीने पर भी हम पशु नहीं होते तो किसी मनुष्य के हाथ का खा लेनेसे हम उसकी जातिके कैसे हो जाँयगे? हमारी जाति कैसे चली जायगी?

आश्चर्य तो यह है कि जो लोग मांसभक्षी हैं, वे भी भोजन में जाति-पाँति का खयाल करते है। वे यह नहीं सोचते कि जो कुछ वे खाते हैं वह इतना अपवित्र है कि उससे अधिक अपवित्र दूसरी वस्तु नहीं हो सकती। इस प्रकार कहाँ तो वर्णव्यवस्था जो कि एक आर्थिक योजना रूप थी? और कहाँ ये खानपान के नियम?

न दोनों में कोई सम्बन्ध न होने पर भी इनका ऐसा विचित्र सम्बन्ध जोड़ लिया गया है ! सच बात तो यह है कि इस मे अहंकारकी पूजा के सिवाय और कुछ नहीं है । मनुष्य धर्मके नामपर मदोन्मत्तता की या खुदा के नामपर शैतान की पूजा कर रहे हैं ।

मनुष्य-जाति की एकता को नष्ट करने वाले ये आत्मघाती प्रयत्न यहीं समाप्त नहीं हो जाते; किन्तु वे छुआछूत के रूप में एक और भयंकर रूप बतलाते है । अछूतता के लिये अगर बहाने बनाये जायँ तो वे ये ही हो सकते है--एकतो आचार-शुद्धि के लिये दुःसंगति का बचाव, दूसरा स्वच्छता की रक्षा का भाव । पहिला कारण यहाँ बिलकुल नहीं है, क्योंकि जिन मद्यमांस-भक्षण आदि दुष्कार्यो से बचने के लिये अछूतता का समर्थन किया जाता है, उनका सेवन अस्पृश्य कहलाने वालों के समान स्पृश्य कहलाने वालों में भी है । अनेक प्रान्तो में ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन वस्तुओ का सेवन करते है । फिर भी ये अछूत नहीं समझे जाते ! और आश्चर्य तो यह है कि ये मांसभक्षी भी अछूत कहलाने वालो को उतना ही अछूत समझते है जितना कि अन्य शाकभोजी समझते है इसलिये मांसभक्षण आदि आचार की खराबियोंसे बचने के लिये यह अछूतता नहीं है । अगर होती तो भी उचित न कहलाती, क्योंकि मांसभक्षीका स्पर्श करने से उसका दोष नहीं लगता, और न उससे पाँच पापो मे से कोई पाप होता है । हाँ, जो लोग हृदयसे दुर्बल है वे खानपान मे ऐसे लोगोकी संगतिका बचाव कर सकते है । परंतु बड़े बड़े भोजों में अथवा और भी ऐसे स्थानों मे जहाँ मांस भक्षण के उत्तेजन की सम्भावना नहीं है, ऐसे बचाव की आवश्यकता नहीं है । खैर, अछूतताके साथ तो इसका कोई सम्बन्ध नही है ।

स्वच्छता की रक्षा का भाव भी अछूतपनका समर्थक नहीं है । इस दृष्टिसे अगर किसी को अछूत माना जाय तो सिर्फ उतने समय के लिये ही माना जाना चाहिये जितने समय वे अछूतता का काम करते हों । स्नानादिसे शुद्ध होनेपर उनको अछूत मानना मूढ़ता है । फिर जो अछूतता का काम करे वही अछूत है न कि सारा कुटुम्ब या जाति । आज तो होता यह है कि जिसकी जाति अछूत नही कहलाती, वह कैसा भी घृणित क्यों न हो वह अछूत न कहलायगा; और जिसकी जाति अछूत कहलाती है वह कैसा भी स्वच्छ हो वह अछूत कहलायगा--वह किसी भी हालत मे स्पृश्य नहीं हो सकता । इस अंधेरशाही का स्वच्छता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है ।

कुछ लोग अछूत कहलानेवालों के शरीर को ही अशुद्ध बता दिया करते है । परन्तु शरीर मे शुद्धिअशुद्धि का विचार करना ही व्यर्थ है । सभी मनुष्यो के शरीर में हाड़ मांस रक्त होता है और ये चीजे कभी शुद्ध नही होती । हाँ, रोगियो का शरीर अमुक दृष्टि से अशुद्ध और स्वस्थ मनुष्योंका शरीर अमुक दृष्टि से शुद्ध कहा जाता है परन्तु उस दृष्टि से तो अछूत कहलाने वाले भी परम शुद्ध हो सकते है और उच्च कहलाने वाले भी परम अशुद्ध हो सकते हैं ।

अगर मानसिक अशुद्धि की बात कही जाय तो वह भी व्यर्थ है, क्योंकि उच्च कहलानेवालो की मानसिक अशुद्धि अछूत कहलाने वालेकी मानसिक अशुद्धि से कम नहीं होती । प्रेम, दया भक्ति, विश्वसनीयता आदि में स्पृश्य और अस्पृश्यों की जाति जुदी जुदी नहीं होती ।

कई लोग अछूत कहलाने वालों के साथ किये गये दुर्व्यवहार को पूर्व जन्म का पाप कहकर स्वयं संतोष करते हैं तथा उनको भी सन्तुष्ट करना चाहते हैं। यदि इसे पूर्वजन्म के पाप का फल भी मानलिया जाय तो इस तरह अज्ञात पापफल देनेका हमें कोई अधिकार नहीं है। यों तो हम बीमार पड़ते हैं तो यह भी पाप-फल है परन्तु इसीलिये बीमार की चिकित्सा न की जाय; एक सतीके ऊपर गुंडे आक्रमण करें तो यह विपत्ति भी सतीके पूर्वजन्म के पाप का फल है, इसीलिये गुंडों को न रोका जाय; हमारी चोरी होती है, खून होता है तो यह भी पूर्वजन्म के पाप का फल है इसीलिये चोरो और खूनियो को न रोका जाय तो समाज की क्या दुर्दशा हो ? अछूत कहलानेवालों के साथ जो दुर्व्यवहार किया जाता है वह अत्याचार है, इसे पाप-फल कहकर नहीं टाला जा सकता। अन्यथा मनुष्य को न्याय, भलाई, सुव्यवस्था करने का कोई अवसर ही न रह जायगा; मनुष्य की अवस्था पशुओं से भी भयंकर हो जायगी।

धार्मिक अधिकारों की दृष्टि से भी छूतो अछूतो में कोई जातिभेद नहीं है। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि महान् धर्म है। धर्म के नाम पर चलनेवाले अन्य आचार तो सब इन्हीं के साधन मात्र हैं। अहिंसा, सत्य आदि के पालन का ठेका किसी भी जातिविशेष को नहीं दिया जा सकता। अछूत कहलानेवालों को यह नहीं कह सकते कि तुम सत्य मत बोलो, ब्रह्मचर्य से मत रहो, अहिंसा का पालन मत करो। जब अहिंसा, सत्य आदि का अधिकार सब को है तब धर्म का ऐसा कोई अंग नहीं है जिसका अधिकार सबको न हो। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था के नामपर मनुष्य जाति के टुकड़े करना, स्पृश्यास्पृश्य की पापमय वासना का संरक्षण करना महान अपराध है

वर्ण-व्यवस्था का जिस प्रकार धार्मिक अधिकारों से, छूने न छूने से, असहभोज आदि से कोई सम्बन्ध नहीं है, उसी प्रकार विवाह से भी कोई सम्बन्ध नहीं है। यह तो आजीविका की सुव्यवस्था के लिये थी, इसलिये विवाह की क़ैद का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु जब आजीविका के भेद से पूज्यापूज्यता का सम्बन्ध जुड़ गया तब एक जटिल समस्या खड़ी हो गई। ब्राह्मण कुल में पैदा होनेवाली, एक कन्या का अगर ऐसे कुल में विवाह हो जो लोक में सन्मान की दृष्टि से न देखा जाता हो तो इससे उसके चित्त को क्षोभ होना स्वाभाविक है। इसलिये अनुलोम विवाह का रिवाज़ बन गया। इसके अनुसार पहिले वर्ण की कन्या दूसरे वर्णवाले को नहीं दी जा सकती थी; किन्तु दूसरे वर्ण की कन्या पहिले वर्ण को दी जा सकती थी। परन्तु यह रिवाज़ भी बहुत समय चल नहीं सकता था क्योंकि इससे शूद्र वर्ण को बहुत आपत्ति का सामना करना पड़ता था। शूद्र कन्याओं को अन्य वर्ण के लोग ले तो लेते थे, परन्तु देते नहीं थे, इसलिये शूद्रों को कन्याओं की कमी होना स्वाभाविक था। अमुक अंश में वैश्यों को भी इस कठिनाई का सामना करना पड़ता था। इसलिये एक दूसरा रिवाज़ चल पड़ा कि ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य तो अनुलोम प्रतिलोम रूपमें विवाह सम्बन्ध करें, और शूद्र शूद्र के साथ ही करें।

प्रारम्भ के तीन वर्णों के जीवन के माध्यम में इतना अन्तर नहीं था कि एक वर्ण की कन्या दूसरे वर्ण के कुटुम्ब को सहन न कर सके। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कुटुम्बों में स्त्रियों का

कार्यक्षेत्र क़रीब क़रीब एक सरीखा ही रहता है; जब कि शूद्र वर्ण की स्त्रियों को अन्य वर्ण की स्त्रियो की सेवा करने को जाना पड़ता है। इस विषमता के कारण अन्य वर्ण की स्त्रियाँ शूद्र वर्ण में नहीं आती थीं।

इससे यह तो मालूम होता ही है कि पुराने समय में असवर्ण विवाह का निषेध नहीं था। हाँ, स्त्रियों को मानसिक कष्ट न हो, इस खयाल से शूद्रो के साथ प्रतिलोम विवाह नहीं होता था। फिर भी स्वयंवर मे इस नियम का पालन नहीं किया जाता था, क्योंकि स्वयंवर में वरका चुनाव कन्या ही करती थी। दूसरे लोग इस विषय में सलाह रूपमें भी हस्तक्षेप नहीं कर सकते थे।

असवर्ण विवाह का विधान और रिवाज़ होने पर भी ऐसे विवाह अल्पसंख्या में हों, यह स्वाभाविक है; क्योंकि विवाह सम्बन्ध मैत्री का एक उत्कृष्ट रूप है। इसीलिये 'मैत्री प्रायः समान स्वभाव समान रहन सहन वालों में होती है' इस कहावत के अनुसार सवर्ण विवाह अधिक होते थे, असवर्ण विवाह कम। धीरे धीरे असवर्ण विवाहों की संख्या घटने लगी और घटते घटते यहाँ तक घटी कि वे बातें इतिहास की हो गईं। परन्तु असवर्ण विवाह के विरोध मे कोई नैतिक बात नहीं कही जा सकती।

आजकल भी अवसर्ण विवाह होते हैं, परन्तु उनका रूप बदल गया है। जो लोग कर्म से जुदे जुदे वर्ण के है उनमे आपस मे शादी हो जाती है। एक अध्यापक एक व्यापारी की पुत्री से शादी कर लेगा; एक व्यापारी अध्यापक की पुत्री से शादी कर लेगा। ये सब असवर्ण विवाह हैं; परन्तु इनका विरोध नहीं होता। परन्तु जो लोग जन्म से दूसरे वर्ण के है और कर्म से एक ही वर्ण के हैं उनमें अगर शादी हो तो विरोध होता है। इस मनोवृत्ति की मूढ़ता इतनी स्पष्ट है कि उसे अधिक स्पष्ट करने की ज़रूरत नहीं है। असवर्ण विवाह मे अगर कोई आपत्ति खड़ी की जा सकती है तो उसका सम्बन्ध कर्म से ही होगा जन्म से नहीं। क्योंकि एक स्त्री ब्राह्मण कुल मे पैदा हुई हो तो उसे शूद्र या व्यापार करनेवाले के घर जाने मे संकोच हो सकता है; परन्तु शूद्र कुल मे पैदा होनेवाले किन्तु विद्यापीठ में अध्यापकी करनेवाले के घर जाने में क्या आपत्ति हो सकती है? असवर्ण विवाह का अगर विरोध भी किया जाय तो कर्म से असवर्ण विवाहों का विरोध करना चाहिये न कि जन्म से, और कर्म से असवर्ण विवाह का विरोध भी वहीं करना चाहिये जहाँ कन्या का विरोध हो।

बहुत से लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णों को जाति का रूप देकर असवर्ण विवाहों का विरोध करते हैं; परन्तु इन वर्णों को जाति का रूप देना ठीक नहीं; क्योंकि जाति की दृष्टि से तो मनुष्य एक ही जाति है। वर्ण-व्यवस्था तो आर्थिक व्यवस्था के लिये बनाई गई है। जाति का सम्बन्ध आकृति आदि के भेद से है। जैसे हाथी, घोड़ा, ऊँट आदि में आकृति-भेद से जातिभेद माना जाता है वैसा मनुष्यो के भीतर कहीं नहीं माना जाता।

जहाँ जातिभेद होता है वहाँ लैङ्गिक सम्बन्ध कठिन होता है। अगर होता है तो सन्तान की विषमाकृति दिखलाई देती है, और कहीं कहीं आगे संतति नहीं चलती। असवर्ण विवाह में यह बात बिलकुल नहीं देखी जाती। जिन देशों मे वर्णव्यवस्थाका ऐसा कट्टर रूप नहीं है और अबाधरूप मे असवर्ण विवाह होते है, वहाँ सन्तान-परम्परा बराबर अच्छे ढंग से चलती है। ब्राह्मणी का शूद्र के साथ भी सम्बन्ध किया जाय तो भी सन्तान-

परम्परा अबाध रूप में चलेगी । इसलिये वर्णों को जाति का रूप देना ठीक नहीं ।

हाँ, जाति शब्द का साधारण अर्थ समानता है, । वर्णों में अर्थोपार्जन के ढंगकी समानता पाई जाती है, इसलिये इन्हें इस दृष्टि से जाति भले ही कहा जाय; परन्तु इस ढंग से तो टोपीवालों की एक जाति और पगड़ीवालों की दूसरी जाति कही जा सकती है। इसलिये विवाह सम्बन्ध अर्थात् लैंगिक सम्बन्ध के लिये जो जातिभेद हानिकर है, वैसा जातिभेद ही वास्तव में जाति-भेद शब्द से कहना चाहिये, जोकि वर्णभेद में नहीं है । इसलिये जातिभेद की दुहाई देकर असवर्ण-विवाह का निषेध नहीं किया जा सकता ।

आज तो वर्णव्यवस्था है ही नहीं, अगर हो तो उसका क्षेत्र बाजार मे है, रोटी-बेटी-व्यवहार में नहीं । इसलिये उसके नाम पर मनुष्य जाति के टुकड़े करने की कोई जरूरत नहीं है । घृणा और अहंकार की पूजा करना मनुष्य सरीखे समझदार प्राणी को शोभा नहीं देता । इसलिये इस दृष्टि से भी हमे मनुष्यब्रह्म की उपासना करना चाहिये ।

**उपजाति कल्पना**-देश, रंग और आजीविका के भेद से मनुष्यने जिन जातियों की कल्पना की, उन सबसे अद्भुत और संकुचितता-पूर्ण इन उप-जातियों की कल्पना है । कहीं कहीं इनको जाति कहते है । परन्तु इनको जाति समझना जाति शब्द का मखौल उड़ाना है । हाँ, रूढ़ शब्द के समान इसका उपयोग किया जाय तो बात दूसरी है।

अनेक प्रान्तों में इन उपजातियों को 'ज्ञाति' कहते हैं । इसका अर्थ है कुटुम्ब । इस दृष्टि से यह उपयुक्त है । 'न्यात' शब्द भी इसी शब्द का अपभ्रंश रूप है, जो इसी अर्थ में प्रचलित है । वास्तव में ये उपजातियाँ एक बड़े कुटुम्बके समान हैं । इनकी उत्पत्ति की जो किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं, उनसे भी यही बात मालूम होती है । जैसे अग्रवालों की उत्पत्ति राजा अग्रसेन से मानी जाती है, उनके अठारह पुत्रों से अठारह गोत्र बने, इस दृष्टि से अग्रवाल एक बड़ा कुटुम्ब ही कहलाया । इस प्रकार ये उपजातियाँ बड़े बड़े कुटुम्ब ही हैं । मित्रवर्ग नातेदार-वर्ग भी इसमें शामिल हुआ है ।

ये उपजातियाँ मतभेद स्थानभेद आदि के कारण बनी हैं । इनके गोत्र भी इन्हीं कारणों से बने हैं, जिनमें आजीविका वगैरह के भेद भी कारण हैं । जिस जमाने में आने जाने के साधन बहुत कम थे और लोग दूसरे प्रान्तों में बस जाते थे, तब अपने मूलग्राम या प्रान्त के नाम से प्रसिद्ध होते थे । ये ही नाम गोत्र या उपजाति-बन जाते थे । कभी कभी प्रधान पुरुषों के नामसे ये गोत्र बन जाते थे ।

सरयू के उस पार बसने वाले सरयूपारि आदि के समान भारत में सैकड़ों टुकड़ियाँ बनी हैं और ये जाति नामसे प्रचलित है, यदि सबका इतिहास खोजा जाय तो एक बड़ा पोथा बनेगा । सबका विधिवद्ध इतिहास उपलब्ध नहीं है । परन्तु उनके नामही इतिहास की बड़ी भारी सामग्री हैं । साथ ही कुछ इतिहास मिलता भी है, उस परसे बाकी का अनुमान किया जा सकता है । धर्मग्रन्थों में भी इन जातियों की उत्पत्ति के विषय में बहुत कुछ लिखा है ।

इन जातियों के भीतर शारीरिक, मानसिक या व्यापारिक ऐसी कोई विशेषता नहीं है जो इन की सीमा कही जा सके । अवसर पड़ने पर

सी सुविधा के लिये कुछ लोगोने अपना संघ ना लिया और उसीके भीतर सारे व्यवहारो को द कर लिया। आज इस प्रकार की उपजा- तेयो मे ऐसी अनेक उपजातियाँ है जिनकी जन- संख्या कुछ सैकड़ों या हजारों में है। ऐसे छोटे छोटे क्षेत्रो मे विवाह-सम्बन्ध के लिये बड़ी अड़- चन पड़ती है और चुनाव के लिये इतना छोटा क्षेत्र मिलता है कि योग्य चुनाव करना बड़ा कठिन है। फिर जो लोग व्यापारिक आदि सुविधा के कारण दूर बस जाते है, उनको दूरस्थ देशो में विवाह-सम्बन्ध की सुविधा होना चाहिये। अन्यथा उनकी वैवाहिक कठिनाइयाँ और बढ़ जायँगी।

इस प्रकार उपजाति विवाह के विषय में तथा अन्य प्रकार के विजातीय विवाहो के विषय मे लोग अनेक प्रकार की शंका करने लगते हैं, संकुचित क्षेत्र में विवाह-सम्बन्ध करने के लाभ बतलाने लगते है। उन पर विचार करना आव- श्यक है। इसलिये संक्षेप मे शंका समाधान के रूप मे विचार किया जाता है।

**शंका**—विजातीय विवाह से जातीय संग- ठन नष्ट हो जायगा। संगठन जितने छोटे क्षेत्र में रहे उतना ही दृढ़ होता है। उसमें व्यवस्था भी बड़ी सरलता से बनाई जा सकती है।

**समाधान**--संगठन की दृढ़ता क्षेत्र की लघुता पर नहीं, भावना की विशेषता पर है। मुसलमान लोग भारत में आठ करोड़ है, परन्तु उनका जो संगठन है वह हिंदुओं की किसी जाति का नहीं है। संख्या मे छोटी होने पर भी वह संगठन में मुसलमानो की बराबरी नहीं कर सकती। इधर इन छोटे छोटे संगठनों को महत्त्व देने से बड़ा संगठन रुकता है। हिंदुओं की छोटी छोटी उपजातियों का संगठन समग्र हिंदुओं के संगठन में बाधा पैदा करता है। फिर राष्ट्र का संगठन तो और भी दूर है। इस प्रकार यह छोटा छोटा संगठन दृढ़ता तो पैदा करता ही नहीं है परन्तु विशाल संगठन के मार्ग में रोड़ अटकाता है। अगर यह दृढ़ता पैदा भी करता तो भी विशाल संगठन को रोकने के कारण यह हेय ही होता। दूसरी बात यह है कि छोटी छोटी जातियों के संगठन का आखिर मतलब क्या है? क्या इनका कोई ऐसा स्वार्थ है जिस का संगठन के द्वारा रक्षण करना हो? आर्थिक स्वार्थ तो विशेष प्रकार की राजनैतिक सीमा के साथ बँधा हुआ है। उसका इन टुकड़ियों से कोई सम्बन्ध नहीं है। एक राष्ट्र के आर्थिक और राजनैतिक स्वार्थ-रक्षण के लिये एक संगठन की बात कही जाय तो किसी प्रकार ठीक भी है; परन्तु जाति नामक टुकड़ियों का ऐसा विशेष स्वार्थ नही है जो एक जाति का हो और दूसरी का न हो। धार्मिक स्वार्थ की दुहाई दी जाय तो भी ठीक नही है। पहिले तो धर्मो के स्वार्थ ही क्या है?--एक धर्मवाले दूसरे धर्म पर आक्र- मण करें तो धर्म के नाम पर संगठन होना चाहिये, न कि जाति के नामपर--फिर इन उपजातियों का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। एक उपजातिके भीतर अनेक धर्म पाये जाते है और एक ही धर्म के भीतर अनेक उपजातियाँ पाई जाती है। इस प्रकार धर्मरक्षण के लिये भी ये उप- जातियाँ कुछ नही कर सकती।

कहा जा सकता है कि थोड़ासा दान कर- के या शक्ति खर्च करके छोटी जाति को लाभ पहुंचाया जा सकता; है बड़ी जाति मे यह काम नही किया जा सकता; अगर समग्र भारत की

क ही जाति हो तो हमारी थोड़ीसी शक्ति किस काम आयगी ? उतने बड़े क्षेत्र के लिये उसका उपयोग ही न होगा।

इस प्रकार का प्रश्न करनेवाले यह बात भूल जाते हैं कि छोटी छोटी जातियों की कैद न रहने से जिस प्रकार क्षेत्र विशाल हो जायगा उसी प्रकार शक्तियाँ लगानेवालों की संख्या भी तो बढ़ जायगी। आज जो हम अपनी छोटीसी जाति के लिये दान करते है या जो शक्ति लगाते हैं उसका लाभ दूसरे नहीं उठापाते; परन्तु दूसरे भी तो इसी प्रकार अपनी जाति के लिये कार्य करते हैं जिसका लाभ हम नहीं उठापाते। अगर इस प्रकार छोटी छोटी जातियों में सब लोग अपनी शक्ति लगाने लगें तो सभी का विकास रुक जाय क्योंकि जीवन के लिये जिन कार्योंकी आवश्यकता है उनका शतांश भी एक एक जाति पूरा नहीं कर सकती। एक दूसरे को अवलम्बन दिये विना कोई आगे नहीं बढ़ सकता। इसलिये विशाल दृष्टि रखकर ही काम करने की आवश्यकता है। इस प्रकार के छोटे छोटे संगटन जितने साधक हो सकते हैं, उससे कई गुणे बाधक होते हैं। इसलिये इनका त्याग करना ही श्रेष्ठ है।

अथवा थोड़ी देर को इनकी जरूरत हो तो भी विजातीय-विवाह से इनका नाश नहीं होता। जैसा कि गोत्रों का नाश नहीं होता। स्त्री जन्म से जिस गोत्र की होती है, विवाह के बाद उसका गोत्र बदलकर पति का गोत्र हो जाता है। फिर भी गोत्रोंकी सीमा नहीं टूटती। इसी प्रकार इन छोटी छोटी जातियों का भी हो सकता है। साधारणतः स्त्री पुरुष के घर में जाती है, इस लिये स्त्री की जाति वही हो जायगी जो उसके पति की है। इस प्रकार जाति-संगठन का गीत गानेवालों केलिये ये जातियाँ बनी रहेंगी, और विवाह का क्षेत्र विशाल हो जाने से सुभीता भी हो जायगा।

इस विषय में एक बार एक भाईने कहा था कि यह तो स्त्रियों का बड़ा अपमान है कि विवाह से उन्हें अपनी जाति से भी हाथ धोना पड़े। परन्तु ऐसे भाइयों को समझना चाहिये कि अगर इसे अपमान माना जाय तो यह अपमान विजातीय विवाह से सम्बन्ध नहीं रखता; इसकी जड़ बहुत गहरी है। आज कल आखिर स्त्रियों को गोत्र से और कुटुम्बसे तो हाथ धोना ही पड़ता है। जहाँ सूतक पातक माना जाता है, वहाँ विवाह के बाद पितृकुल का सूतक तक नहीं लगता, और पतिकुल का लगता है। इसलिये यह अन्याय बहुत दूर का है। जब स्त्रियों का कुल, गोत्र आदि बदल जाता है तब एक कल्पित जाति और बदल गई तो क्या हानि हुई ? असली बात तो यह है कि यह मानापमान का प्रश्न ही नहीं है। विवाह के बाद स्त्री और पुरुष का एकत्र रहना तो अनिवार्य है; ऐसी हालत में किसी एकको दूसरे के यहां जाना पड़ेगा, और अपने को हर तरह उसी घर का बना लेना पड़ेगा। अगर ऐसा न किया जायगा और कुल गोत्र गृह का भेद बना रहेगा तो दाम्पत्य-जीवन अत्यन्त अशांतिमय हो जायगा। इसलिये दोनों का एक करना अनिवार्य है। ऐसी हालत में सुव्यवस्था के लिये स्त्री का गोत्र बदल दिया गया तो क्या हानि है ? अगर कहीं पुरुष को स्त्री के घर जाकर रहना पड़े और पुरुष का गोत्र बदल दिया जाय तो भी कोई हानि नहीं है। घर-जमाई के विषय में यही रीति काम मे लाई जा सकती